वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ५२ अंक ५ मई २०१४

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०१४

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५२
अंक ५

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

वर्ष ५२ **मई २०१४** **अंक ५**

पुरखों की थाती

धनलुब्धो त्वसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ।।३८२।।

– जो व्यक्ति धन का लोभी है, तृष्णातुर है, असंयमी और इन्द्रियों का दास है – ऐसे असन्तोषी व्यक्ति को हर तरह की विपत्तियाँ घेरे रहती हैं।

धनानि जीवितं चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति ।।३८३

– बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अपना धन और जीवन परोपकार में लगा दे; क्योंकि जब एक दिन इनका नाश होना निश्चित है, तो इन्हें भले कार्यों में लगा देना ही उत्तम है ।

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ।।३८४

– उस धन से क्या लाभ, जिसका न दान हो और न भोग? उस बल से क्या लाभ, जिससे शत्रु परास्त न हों? उस शास्त्रपाठ से क्या लाभ, जिसके अनुसार आचरण न हो? और उस व्यक्तित्व से क्या लाभ, जो जितेन्द्रिय न हो सके?'

धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत् ।
नहि हस्तस्थमप्यन्नं क्षमावान् भक्षितुं क्षमः ।।३८५

– धर्म, अर्थ तथा काम के तत्त्व के ज्ञाता को चाहिए कि वह सर्वथा दयालु ही न बन जाय। क्योंकि विशेष दयावान व्यक्ति हाथ में रखे हुए अन्न तक को नहीं खा सकता।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ।।३८६

– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्राण ही मूल कारण है । इस प्राण की हत्या करनेवाले मनुष्य ने किसकी हत्या नहीं की और इसकी रक्षा करनेवाले ने किसकी रक्षा नहीं की?

धर्मार्थकाममोक्षाणाम् आरोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।।३८७।।

– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन सबका सर्वोत्तम मूल आरोग्य ही है। रोग ही परमार्थ तथा जीवन दोनों का नाश करने वाले हैं। (च. सू. १/१५)

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ।। ३८८

– धर्मात्मा शत्रु पर जब चढ़ाई की जाती है, तो उसके साथ बहुत-से योद्धा आ मिलते हैं। उसके प्रजा-प्रेम तथा धार्मिकता के कारण उसे हराने में बड़ी कठिनाई होती है।

ध्यानिकं सर्वमेवैतत् यदेतत् अभिशब्दितम्।
न हि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलम् उपाश्नुते।८९

– जो कुछ पहले कहा गया है, वह सब अन्तर में ध्यान करने से मिलता है, जो अपने अन्तरात्मा को नहीं जानता, वह अपने किसी कर्म का फल नहीं भोग सकता। (मनुस्मृति)

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा ।।३९०।।

– न कोई किसी का मित्र है, न कोई किसी का शत्रु। संसार में अच्छे-बुरे व्यवहार से ही मित्र और शत्रु होते हैं।

न काले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ।।३९१।।

– काल आये बिना सैकड़ों बाणों से घायल हुआ प्राणी भी नहीं मरता, पर जिसका समय पूरा हो गया है, उसकी कुशा की नोक छू जाने पर भी मृत्यु हो जाती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(मधुवन्ती–तीन ताल)

हे रामकृष्ण करुणानिधान ।
हो व्याप रहे तुम कण-कण में,
आनन्द रूप मंगलविधान ।।

भव के पद-सम्पद विपद भरे, तव पद-सम्पद धर जीव तरे,
हर लो मन की माया-ममता, दो मुझको निर्मल भक्ति-ज्ञान ।।

हूँ जनम जनम का मैं प्यासा,
यदि कृपाबिन्दु दो थोड़ा-सा,
फेरो मुझ पर निज स्नेहदृष्टि,
भर जाएँ मेरे हृदय-प्राण ।।

आया हूँ लम्बा पथ चलकर, विषयों के विष से जल-भुनकर,
पूरण कर दो मेरी आशा, देकर चरणों का सन्निधान ।।

दुखदाई है जग की माया,
सुखमय भासित मिथ्या छाया,
विस्मृत कर सारे नाम-रूप,
प्रतिपल होवे तव विमल ध्यान ।।

– २ –

(भीमपलासी–एकताल; तर्ज–वह शक्ति हमें दो)

मम मन के मानसरोवर में,
प्रभु परमहंस विचरण करते ।
खिलते हैं पद्म प्रभूत वहाँ,
आनन्दरूप भवदुख हरते ।।

हिम आच्छादित गिरि शिखर खड़े,
सात्त्विक हैं और सुरम्य बड़े,
आर्द्रित हो सन्तापित चित में,
दैवी सुख-शान्ति सुधा भरते ।।

हिंसक रिपुओं का नाम नहीं,
अँधियारे का भी काम नहीं,
फैली सर्वत्र अलौकिक द्युति,
मोदित जग-जीव तरण करते ।। – *विदेह*

पश्चिमी दुनिया में दूसरी बार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

न्यूयार्क, २१ नवम्बर १८९९ : मेरी कठोरता के लिए नाराज न होना। मैं चाहे कुछ भी क्यों न कहूँ – मेरा हृदय तुमसे छिपा नहीं है। तुम लोगों का सर्वविध मंगल हो। विगत प्राय: एक वर्ष से मैं मानो एक तरह के आवेश में चल रहा हूँ। मैं इसका कारण नहीं जानता। भाग्य में इस तरह का नारकीय कष्ट भोगना लिखा था – और मैं उसे भोग चुका हूँ। वस्तुत: अब मैं पहले की अपेक्षा बहुत अच्छा हूँ। प्रभु तुम लोगों के सहायक बनें! चिरविश्राम के लिए शीघ्र ही मैं हिमालय जा रहा हूँ। मेरा कार्य समाप्त हो चुका है।[१५]

लॉस एंजेलस, ६ दिसम्बर १८९९ : किसी-किसी का स्वभाव ही ऐसा है कि वे दु:ख-कष्ट ही भोगना पसन्द करते हैं। वस्तुत: जिन लोगों के बीच मैंने जन्म लिया है, यदि उनके लिए मैं अपने प्राण न्यौछावर नहीं कर देता, तो दूसरे के लिए मुझे वैसा करना ही पड़ता – इसमें कोई सन्देह नहीं है। किसी-किसी का स्वभाव ही ऐसा होता है – क्रमश: मैं यह समझ रहा हूँ। हम सभी सुख के पीछे दौड़ रहे हैं – यह सत्य है; किन्तु कोई कोई व्यक्ति दु:ख के अन्दर ही आनन्दानुभव करते हैं – क्या यह अत्यन्त अद्भुत नहीं है? इसमें हानि कुछ भी नहीं; विचार करने का विषय मात्र इतना ही है कि सुख-दु:ख दोनों ही संक्रामक हैं। इंगरसोल ने एक बार कहा था कि यदि वे भगवान होते, तो रोगों को संक्रामक न बनाकर स्वास्थ्य को ही संक्रामक बनाते। परन्तु स्वास्थ्य भी रोगों की तुलना में समान रूप से संक्रामक है – यह महत्त्वपूर्ण बात एक बार भी उनके ध्यान में नहीं आयी। खतरा यहीं है! मेरे व्यक्तिगत सुख-दु:ख से जगत् का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है – केवल मुझे इतना ही देखना है कि वे दूसरों में संक्रमित न हों। इसी में कर्म की कुशलता है। जब कभी कोई महापुरुष दूसरों के दु:ख से दुखी होते हैं, तभी वे गम्भीर बन जाते हैं, अपनी छाती पीटने लगते हैं और सबको बुलाकर कहते हैं, "तुम लोग इमली चखो, अंगार फाँको, शरीर पर राख मलकर गोबर के ढेर पर बैठे रहो और आँखों में आँसू भरकर करुण स्वर में विलाप करते रहो।" मुझे ऐसा दिखायी दे रहा है कि उन सभी में त्रुटियाँ थीं – सचमुच ही थीं। यदि तुम वास्तव में जगत् के बोझ को अपने कन्धों पर लेने के लिए प्रस्तुत हो, तो उसे पूर्ण रूप से ग्रहण करो; किन्तु यह ख्याल रखो कि तुम्हारा विलाप तथा अभिशाप हमें सुनायी न दे। तुम अपनी पीड़ाओं के द्वारा हमें इस प्रकार भयभीत न करो कि अन्त में हमें यह सोचना पड़े कि हमारे लिए बल्कि तुम्हारे पास न जाकर अपने दु:खों के बोझ को लेकर स्वयं बैठे रहना ही कहीं उचित था। जो व्यक्ति यथार्थ में जगत का बोझ अपने ऊपर लेता है, वह तो जगत् को आशीर्वाद देता हुआ अपने मार्ग में अग्रसर होता रहता है। वह न तो किसी की निन्दा करता है और न आलोचना ही, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जगत् में पाप का कोई अस्तित्व न हो; अपितु इसका कारण यह है कि उन्होंने स्वेच्छापूर्वक स्वत: प्रवृत्त होकर उसे अंगीकार किया है। जो उद्धार करना चाहते हैं, उन्हें आनन्दपूर्वक अपने मार्ग में चलना होगा; पर जो उद्धार पाने के लिए आएँगे, उनके लिये ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

आज प्रात:काल केवल यही सत्य मेरे सम्मुख प्रकाशित हुआ है। यदि यह भाव स्थायी रूप से मेरे अन्दर आकर मेरे समग्र जीवन में छा जाय, तो यही यथेष्ट होगा।

दु:ख के बोझ से जर्जरित लोगो, तुम जहाँ कहीं भी हो, चले आओ, अपना सारा बोझ मुझे देकर तुम अपनी इच्छानुसार चलते रहो, सुखी बनो और भूल जाओ कि कभी मेरा अस्तित्व था।[१६]

लॉस एंजेलस, ९ दिसम्बर १८९९ : आखिरकार मैं कैलीफोर्निया में आ गया हूँ! मेरा यहाँ आना वस्तुत: मेरे लिये भी अच्छा है और मेरे स्नेही जनों के लिये भी। हमारे एक कवि का कहना है, "कहँ काशी कहँ काशमीर, कहँ खुरासान गुजरात; जाको जैसो कर्म है, तहँ तुलसी लै जात।" और मैं यहाँ आ पहुँचा हूँ। मेरे लिये तो यही सबसे अच्छा है। ऐसा ही है न?...

पिछली रात यहाँ एक व्याख्यान था। विज्ञापन न दिये जाने के कारण हॉल में कोई खास भीड़ नहीं थी, तो भी श्रोताओं की संख्या काफी थी। यदि मेरे स्वास्थ्य में सुधार हुआ, तो मैं

शीघ्र ही इस नगर में कक्षाएँ शुरू करने जा रहा हूँ। तुम जानती हो कि इस बार मैं व्यवसाय के पथ पर हूँ। यदि हो सके, तो जल्दी से कुछ डॉलर बना लेना चाहता हूँ।[१७]

लॉस एंजेलस, १२ दिसम्बर १८९९ : मैं निष्ठुर हूँ, बहुत ही निष्ठुर हूँ। पर मुझमें जो कोमलता आदि हैं, वह मेरी दुर्बलता है। काश ! यह दुर्बलता यदि मुझमें कम होती, बहुत कम होती ! हाय ! यही है मेरी दुर्बलता तथा यही है मेरे सभी दुःखों का कारण !... बीच-बीच में अपने बच्चों की मैं जो कठोर भर्त्सना करता हूँ, उसके लिए मैं दुखी हूँ, पर वे यह भी भलीभाँति जानते हैं कि संसार में मैं ही उन्हें अधिक प्यार करता हूँ।

यह सच है कि मुझे दैवी सहायता मिली है ! किन्तु अहा ! उसके हर कण के लिए न जाने मुझे अपना कितना खून बहाना पड़ा है। वह न मिलने पर शायद मैं अधिक सुखी होता और अधिक अच्छा मनुष्य बनता। वर्तमान परिस्थिति बड़ी अन्धकार-मय प्रतीत होती है; किन्तु मैं योद्धा हूँ और मैं युद्ध करते हुए ही मरूँगा, हार नहीं मानूँगा; इसी कारण तो बच्चों पर मैं नाराज हो जाता हूँ। मैं उन्हें युद्ध करने नहीं बुला रहा हूँ – मैं तो सिर्फ यही चाहता हूँ कि वे लोग मेरे युद्ध में बाधा न खड़ी करें।

भाग्य के बारे में मुझे कुछ भी नहीं कहना है। किन्तु हाय ! मैं चाहता हूँ कि मेरे बच्चों में से कम-से-कम एक भी तो मेरे साथ रहकर सभी प्रतिकूल अवस्थाओं में संग्राम करता रहे।...

भारतवर्ष में कोई भी काम करने के लिए वहाँ मेरी उपस्थिति आवश्यक है। मेरा स्वास्थ्य अब पहले से काफी अच्छा है; शायद समुद्र-यात्रा से यह और भी सुधर जाय। खैर, इस समय मैंने अमेरिका में पुराने मित्रों से मिलने के सिवाय और कुछ काम नहीं किया। ...

अपने जीवन में मैंने अनेक गलतियाँ की हैं; किन्तु उसमें प्रत्येक का कारण रहा है प्रेम का अतिरेक। अब मुझे प्यार से ही द्वेष हो गया है ! अहा ! यदि मेरे पास वह बिलकुल न होता ! आप भक्ति की बात कहती हैं ! अहा, यदि मैं निर्विकार और कठोर वेदान्ती हो पाता ! जाने दीजिये, यह जीवन तो समाप्त ही हो चुका। अगले जन्म में प्रयत्न करूँगा। मुझे इस बात का दुःख है – खासकर आजकल – कि मेरे बन्धुओं को मेरे पास से आशीर्वाद की अपेक्षा कष्ट ही अधिक मिला है। मैं काफी अर्से से जिस शान्ति और निर्जनता की खोज कर रहा हूँ, वह मेरे भाग्य में अभी तक नहीं जुटी। अनेक वर्षों के पूर्व मैं हिमालय गया था, मन में यह दृढ़ निश्चय करके कि मैं वापस नहीं आऊँगा, तभी मुझे समाचार मिला कि मेरी बहन ने आत्महत्या कर ली है। फिर मेरे दुर्बल हृदय ने मुझे उस शान्ति की आशा से दूर फेंक दिया। उसी दुर्बल हृदय ने, जिन्हें मैं प्यार करता हूँ, उनके लिए भिक्षा माँगने मुझे भारत से दूर फेंक दिया; और इसीलिए आज मैं अमेरिका में हूँ ! मैं शान्ति का प्यासा हूँ; किन्तु प्यार के कारण मेरे हृदय ने मुझे उससे वंचित कर दिया। संग्राम और पीड़ाएँ, पीड़ाएँ और संग्राम ! खैर, मेरे भाग्य में जो लिखा है, वही होने दीजिये; और जितने शीघ्र यह समाप्त हो जाय, उतना ही अच्छा है। लोग कहते हैं कि मैं भावुक हूँ, परन्तु आप जरा मेरी परिस्थितियों के विषय में भी तो सोचिये ! ...

वाह गुरु की फतह ! गुरुदेव की जय हो ! हाँ, चाहे जैसी भी परिस्थिति क्यों न आये – जगत आये, नरक आये, देवगण आयें, माँ आयें – मैं संग्राम ही करता रहूँगा, हार कदापि नहीं मानूँगा। रावण ने साक्षात् भगवान के साथ युद्ध करके तीन जन्म में मुक्तिलाभ किया था ! महामाया के साथ युद्ध करना तो बड़े गौरव की बात है।[१८]

लॉस एंजेलस, २२ दिसम्बर १८९९ : हाल में मेरा शरीर अवस्थ हो गया था; इसलिए शरीर मलनेवाले डॉक्टर ने रगड़-रगड़कर मेरे शरीर से कई एक इंच चमड़ा उठा डाला है ! अभी तक मैं उसकी पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ। निवेदिता का एक अत्यन्त आशाप्रद पत्र मुझे मिला है। पैसाडेना में मैं पूरा परिश्रम कर रहा हूँ और मुझे आशा है कि यहाँ पर मेरा कार्य कुछ अंशों में सफल होगा। यहाँ पर कोई-कोई बड़े उत्साही हैं। इस देश में 'राजयोग' पुस्तक सचमुच ही बहुत सफल हुई है। मानसिक दशा की ओर से वस्तुत: मैं पूर्ण रूप से अच्छा हूँ; इस समय मुझे जो शक्ति प्राप्त है, वह पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुई थी। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि व्याख्यान देने से मेरी नींद में किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। यह निश्चय ही एक तरह का लाभ है। कुछ-कुछ लिखने का कार्य भी कर रहा हूँ। यहाँ के व्याख्यानों को एक संकेत-लेखक ने 'नोट' किया था। यहाँ के लोग उन्हें मुद्रित भी करना चाहते हैं। ...

योजनाएँ भी क्रमश: रूपायित हो रही हैं। किन्तु मैं कहता हूँ, ''माँ ही सब कुछ जानती हैं।'' वे अपने कार्य के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को चुन लें और मुझे मुक्ति प्रदान करें। हाँ, एक बात और; और वह यह कि गीता में जो फलाकांक्षा को छोड़कर कार्य करने का उपदेश दिया गया है, उसके ठीक-ठीक मानसिक अभ्यास का यथार्थ उपाय क्या है – यह मैंने खोज निकाला है। ध्यान, मन:संयोग तथा एकाग्रता के साधन के विषय में मुझे ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिसके अभ्यास से हम सब प्रकार के कष्ट-उद्वेगों से छुटकारा पा सकते हैं। यह मन को अपनी इच्छा के अनुसार किसी स्थल पर केन्द्रित रखने के कौशल के सिवाय और कुछ नहीं है।... कष्टों के भोग में भी एक तरह का आनन्द है, बशर्ते वे दूसरों के लिए हों। क्या यह ठीक नहीं? श्रीमती लेगेट कुशलपूर्वक हैं; 'जो' भी ठीक है; और वह कहती हैं कि मैं भी ठीक हूँ। सम्भव है कि उनकी बातें ठीक हों। अस्तु, मैं कार्य करता हुआ चला जा रहा हूँ और कार्यों में लगे हुए ही मरना चाहता हूँ – अवश्य, यदि यही 'माँ की इच्छा' हो। मैं पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हूँ।[१९]

लॉस एंजेलस, २३ दिसम्बर १८९९ : चुम्बकीय चिकित्सा-पद्धति से सचमुच ही मैं क्रमश: स्वस्थ होता जा रहा हूँ। सच बात यह है कि अब मैं अच्छी तरह से हूँ। मेरे शरीर का कोई भी यंत्र कभी नहीं बिगड़ा – स्नायु-सम्बन्धी दुर्बलता तथा अजीर्ण ने ही मेरे शरीर में गड़बड़ी पैदा की थी।

अब मैं प्रतिदिन या तो भोजन से पहले या बाद में, कोसों टहलने जाता हूँ। मैं पूर्ण रूप से स्वस्थ हो चुका हूँ और मेरा दृढ़ विश्वास है कि मैं ठीक ही रहूँगा।

अब चक्र घूम रहा है – माँ उसे घुमा रही हैं। उनका कार्य जब तक समाप्त नहीं होता, तब तक वे मुझे छोड़ना नहीं चाहतीं – असली रहस्य यही है। ...

सब कुछ आशाप्रद लग रहा है; अत: तैयार हो जाओ।[२०]

लॉस एंजेलस, २७ दिसम्बर १८९९ : मैं तेज गति से पैसे अर्जित कर रहा हूँ – इस समय प्रतिदिन २० डालर के हिसाब से। जल्दी ही मैं अपने कार्य का विस्तार करूँगा और हर रोज ५० डॉलर प्राप्त करूँगा। दो-तीन सप्ताह बाद मैं सैनफ्रांसिस्को जाने वाला हूँ और वहाँ इससे भी अच्छा कार्य करने की उम्मीद करता हूँ। इससे भी अच्छी खबर यह है कि यह सारा पैसा मैं अपने पास ही रखने जा रहा हूँ, अब इन्हें बरबाद नहीं करूँगा। बाद में मैं हिमालय में एक छोटी-सी जगह खरीदूँगा – एक पूरी पहाड़ी, करीब ६००० फुट की ऊँचाई पर, जहाँ से चिरन्तन हिम-शिखरों की भव्य दृश्यावली दीख रही होगी। उसमें कुछ झरने और एक सरोवर होगा। उसमें देवदार के जंगल होंगे और सर्वत्र फूल-ही-फूल खिल रहे होंगे। उसमें मेरी एक छोटी-सी कुटिया होगी; बीच में शाक-सब्जियों का उद्यान होगा, जिसमें मैं स्वयं काम करूँगा – और – और – और – मेरी किताबें – और कभी-कभार ही किसी मनुष्य का चेहरा देखूँगा। यदि पृथ्वी मेरे कानों के पास से भी ध्वंस को प्राप्त हो, तो मैं परवाह नहीं करूँगा। तब तक मैं अपना – जागतिक तथा आध्यात्मिक – सारा सम्पन्न कर चुका होऊँगा – और अवकाश पर रहूँगा। अहा ! मुझे सारे जीवन जरा भी विश्राम नहीं मिला ! जन्म से ही यायावर रहा। आगे की नहीं जानता, पर अभी तो मेरी यही परिकल्पना है। भविष्य यथासमय आयेगा। बड़ी विचित्र बात है – मेरे अपने सुखों के सारे सपने मानो चूर-चूर होने को बाध्य हैं, परन्तु दूसरों की भलाई के सपने निश्चित रूप से सच हो जाते हैं।[२१]

लॉस एंजेलस, २४ जनवरी १९०० : मैं जिस शान्ति और विश्राम की खोज में हूँ, लगता है कि वे मुझे कभी मिलेंगे। तो भी महामाया दूसरों का – कम-से-कम मेरे स्वदेश का – कुछ कल्याण करा रही हैं; और इस उत्सर्ग के भाव को आधार बनाकर अपने भाग्य के साथ समझौता करना काफी आसान है। हम सभी अपने-अपने भावों में आत्म-बलिदान कर रहे हैं। महापूजन हो रहा है – एक महान बलिदान के बिना अन्य किसी प्रकार से इसका कोई अर्थ नहीं निकलता। जो स्वेच्छापूर्वक अपने मस्तक आगे बढ़ा देते हैं, वे बहुत-सी पीड़ाओं से बच जाते हैं; और जो बाधा उत्पन्न करते हैं, उन्हें बलपूर्वक दबाया जाता है और उनको कष्ट भी अधिक भोगना पड़ता है। मैं अब स्वेच्छा से आत्मसमर्पण करने को कटिबद्ध हूँ।[२२]

लॉस एंजेलस, २७ दिसम्बर १८९९ : मेरा स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा बहुत-कुछ अच्छा है और कार्य करने लायक यथेष्ट शक्ति भी मुझे प्राप्त हो गयी है। अब मैंने कार्य भी शुरू कर दिया है और मुकदमे के खर्चे के लिये सदानन्द को कुछ – १३०० रुपये भेज दिये हैं। आवश्यकता पड़ने पर और भी भेजूँगा। ... बीच बीच में मैं इन बेचारे बच्चों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार कर बैठता हूँ ! इन सबके बावजूद वे जानते हैं कि मैं ही उनका सर्वोत्तम मित्र हूँ।...

तीन सप्ताह पूर्व मैंने उन्हें 'तार' द्वारा सूचित कर दिया है कि मैं अब पूर्ण रूप से स्वस्थ हो चुका हूँ। यदि मैं और अधिक अस्वस्थ नहीं हुआ, तो जैसा स्वास्थ्य अभी है, उसी से कार्य चलता रहेगा। मेरे लिए आप कतई चिन्तित न हों; मैं पूर्ण उद्यम के साथ कार्य में जुट गया हूँ।

इस समय मैं पहले से कहीं अधिक शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ और यह समझ गया हूँ कि इस शान्ति को स्थाई बनाये रखने का एकमात्र उपाय दूसरों को शिक्षा प्रदान करना है। कार्य ही मेरे लिए एकमात्र 'सेफ्टी वाल्व' (सुरक्षा कपाट) है। ...

मेरे लिए कार्य सम्पन्न करना तभी सम्भव होता है, जब मुझे पूरी तौर से अपने ही पैरों पर खड़ा होना पड़ता है। एकाकी अवस्था में मेरी शक्ति का विकास अधिक होता है। यही शायद 'माँ की इच्छा' भी है। 'जो' का विश्वास है कि 'माँ' के मन में बड़ी-बड़ी योजनाएँ हैं – कदाचित् ऐसा ही होगा। ...

मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि यदि माँ एक बार फिर भारत के प्रति कृपालु हों, तो मैंने अपने जीवन में जो भी आघात पाये हैं, जो भी कष्ट उठाये हैं – उन सबको मैं एक आनन्दपूर्ण बलिदान समझूँगा। ...

मैं शीघ्र ही कैलीफोर्निया में काम करने जा रहा हूँ। कैलीफोर्निया छोड़ते समय मैं तुरीयानन्द को यहाँ बुला लूँगा और उसे प्रशान्त महासागर के तट पर कार्य में लगा दूँगा। मेरी यह निश्चित धारणा है कि वहाँ एक विशाल कार्यक्षेत्र है। लगता है कि 'राजयोग' पुस्तक इधर काफी लोकप्रिय है।

'जो' ने एक चुम्बकीय चिकित्सिका को ढूँढ़ निकाला है; वे शरीर मलकर चिकित्सा करती हैं। हम दोनों ही उनसे चिकित्सा करा रहे हैं। 'जो' का विचार है कि उसने मुझे काफी-कुछ चंगा कर दिया है। उसका दावा है कि स्वयं उसके ऊपर भी चिकित्सा का अद्भुत फल हुआ है। अब यह चुम्बकीय

चिकित्सा के फलस्वरूप हो, या कैलिफोर्निया के 'ओजोन' (वायु) के कारण अथवा बुरी ग्रहदशा के दूर हो जाने की वजह से, पर मैं स्वस्थ हो रहा हूँ। भरपेट भोजन के बाद तीन मील पैदल चल पाना निस्सन्देह एक बहुत बड़ी बात है ![२३]

लॉस एंजेलस, २७ दिसम्बर १८९९ : यहाँ जाड़ा बिल्कुल उत्तर भारत जैसा है, केवल कभी-कभी दिन थोड़े गर्म हो जाते हैं। यहाँ गुलाब भी हैं और सुन्दर ताड़ों के पेड़ भी। खेतों में जौ की फसल खड़ी हैं; यहाँ मैं जिस काटेज में रहता हूँ, उसके चारों ओर गुलाब और दूसरे कई तरह के फूल लगे हैं। मेरी मेजबान श्रीमती ब्लाजेट शिकागो की महिला हैं – मोटी, वृद्ध और बड़ी हाजिरजवाब ! उन्होंने शिकागो में मेरा व्याख्यान सुना था और वे बड़ी वात्सल्यमयी हैं। ...

इस समय मैं बड़ा प्रसन्न हूँ और आशा करता हूँ कि बाकी जीवन ऐसा ही रहूँगा। ...

यदि मैं खूब धन अर्जित कर पाता, तो मुझे बड़ी खुशी होती। कुछ तो कमा भी रहा हूँ। मार्गट से कहो कि मैं काफी रुपये पैदा करने जा रहा हूँ और जापान, होनोलुलु, चीन तथा जावा होते हुए देश लौटने वाला हूँ। जल्दी रुपये कमाने के लिए यह एक अच्छी जगह है और सुनता हूँ कि सैन्फ्रांसिस्को इससे भी कहीं अच्छा है।[२४]

पसाडेना, १७ जनवरी १९०० : मिस मैक्लाउड तथा श्रीमती लेगेट की सहायता से मैं सारदानन्द को २००० रुपये भेजने में समर्थ हुआ हूँ। वस्तुत: इसका बड़ा हिस्सा उन्हीं ने दिया है। बाकी व्याख्यानों के माध्यम से प्राप्त हुआ। यहाँ अथवा अन्यत्र कहीं व्याख्यान द्वारा विशेष कुछ होने की आशा मुझे नहीं है। खर्च भी मुश्किल से जुटा पाता हूँ। इतना ही नहीं, पैसा देने की बात उठते ही लोग रफूचक्कर हो जाते हैं। इस देश में व्याख्यान के क्षेत्र में अत्यधिक काम हो चुका है; और लोगों में सुनने की प्रवृत्ति मर चुकी है।

शारीरिक रूप से मैं ठीक हूँ। चिकित्सिका का विचार है कि अब मैं अपने पसन्द के किसी भी स्थान पर जाने के लिये स्वतंत्र हूँ। यह प्रक्रिया चलती रहेगी और कुछ ही महीनों में मैं पूरी तौर से चंगा हो जाऊँगा। वे जोर देकर कहती हैं कि मैं नीरोग हो चुका हूँ और बाकी का काम प्रकृति करेगी।

मैं यहाँ खासकर स्वास्थ्य पाने के लिये ही आया था और वह मुझे मिल चुका है। इसके अतिरिक्त मुझे मुकदमे के खर्च हेतु २००० रुपये भी प्राप्त हुए हैं। बहुत अच्छा ! अब मुझे ऐसा लगता है कि व्याख्यान-मंच से होने वाला मेरा कार्य समाप्त हो चुका है; और अब मेरे लिए उस तरह के कार्यों द्वारा अपना स्वास्थ्य चौपट करना आवश्यक नहीं है।

यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि अब मुझे स्वयं को मठ-सम्बन्धी सारी चिन्ताओं से मुक्त कर लेना होगा और कुछ समय के लिये अपनी माता के पास जाना होगा। मेरी वजह से उन्होंने बहुत कष्ट उठाया है। मुझे उनके अन्तिम दिनों को मधुर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्या आपको मालूम है कि महान् शंकराचार्य को भी ठीक ऐसा ही करना पड़ा था? उन्हें भी अपनी माँ के अन्तिम दिनों में उनके पास लौटना पड़ा था। मैं इसे स्वीकार करता हूँ, मैं आत्मसमर्पण कर चुका हूँ। इस समय मैं सदा से अधिक शान्त हूँ। ... इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ त्याग का आह्वान भी मुझे मिल रहा है कि उच्चाभिलाषा, नेतृत्व तथा यशाकांक्षाओं को मुझे त्यागना होगा। मेरा मन इसके लिए प्रस्तुत है तथा मुझे यह तपस्या करनी होगी।... मैं सारदानन्द, ब्रह्मानन्द तथा तुम्हारे (श्रीमती बुल) नाम से मठ का एक ट्रस्ट-डीड बना देना चाहता हूँ। सारदानन्द के पास से कागज-पत्र आते ही मैं इसे कर डालूँगा। इसके बाद मैं सब छोड़ दूँगा। अब मैं चाहता हूँ विश्राम, एक मुट्ठी अन्न, कुछ पुस्तकें और मैं कुछ विद्वत्तापूर्ण कार्य में लग जाऊँगा। माँ अब मुझे स्पष्ट रूप से यही दृश्य दिखा रही है। ... अब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि मेरे लिये १८८४ में अपनी माँ को छोड़ना एक महान त्याग था और आज मेरा अपनी माँ के पास लौट जाना उससे भी बड़ा त्याग है। शायद 'माँ' की यही इच्छा है कि प्राचीन काल के महान आचार्य की भाँति मैं भी कुछ अनुभव करूँ। ... मैं तो मात्र एक शिशु हूँ; मुझे कौन-सा कार्य करना है? मुझे दीख रहा है कि अपनी शक्तियाँ मैं आपको सौंप चुका हूँ। अब व्याख्यान-मंच से और कुछ नहीं कह सकता। यह बात किसी अन्य को मत बतायें। ... इससे मैं आनन्दित ही हूँ। मैं विश्राम चाहता हूँ। ऐसी बात नहीं कि मैं थक गया हूँ, परन्तु अगला पर्व वाणी का नहीं, बल्कि अलौकिक स्पर्श का होगा, जैसा कि श्रीरामकृष्ण देव का था।[२५]

❖ (क्रमश:) ❖
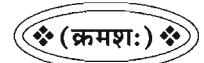
सन्दर्भ-सूची –

१५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३९२; **१६.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १२४-२५; **१५.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३९२; **१६.** वही, खण्ड ७, पृ. ३९४; **१७.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १३०-३१; **१८.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३९५-९६; **१९.** वही, खण्ड ७, पृ. ३९८; **२०.** वही, खण्ड ७, पृ. ३९९; **२१.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १३१-३२; **२२.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ४०५-६; **२३.** वही, खण्ड ७, पृ. ४००; **२४.** वही, खण्ड ७, पृ. ४०२; **२५.** वही, खण्ड ७, पृ. ४०४

धर्म-जीवन का रहस्य (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

परम श्रद्धेय स्वामी सत्यरूपानन्दजी महाराज, समुपस्थित सन्त-मण्डली, विद्वत्वृन्द, जिज्ञासु श्रोता और भक्तिमती देवियों को, उनके चरणों में मैं सादर नमन करता हूँ।

गुरु वशिष्ठ द्वारा राजर्षि जनक के समक्ष जो पंक्ति कही गई थी, आइये उस पंक्ति को केन्द्र बनाकर हम सब धर्म के स्वरूप पर दृष्टि डालने की चेष्टा करें –

महाराज अब कीजिअ सोई ।
सब कर धरम सहित हित होई ।। २/२९०/८

यह जो पंक्ति है, इसमें गुरु वशिष्ठ ने महाराज जनक से यह आग्रह किया कि इस समय चित्रकूट में जो स्थिति है उसमें यह निर्णय नहीं हो पा रहा है कि वस्तुत: क्या किया जाना चाहिये। सत्य की रक्षा के लिये महाराज दशरथ ने प्राणों का परित्याग कर दिया। उनकी सत्य की रक्षा के लिये श्रीरामभद्र जनकनन्दिनी श्रीसीता और लक्ष्मणजी के साथ वन में निवास कर रहे हैं।

सत्य के रूप में जो धर्म की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या की गई है, वह सत्य का पक्ष है। किन्तु ऐसा लगता है कि भरतजी सत्य की इस व्याख्या को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। वे सारे समाज को लेकर चित्रकूट आये हुए हैं और उन लोगों का उद्देश्य यह है कि वे श्रीसीता, लक्ष्मण जी के साथ श्रीराम को अयोध्या ले जायँ और वहाँ रामराज्य की स्थापना हो। सबसे जटिल स्थिति तो यह है कि यहाँ कोई भी अपने आपको निर्णायक की भूमिका में रखने के लिये प्रस्तुत नहीं है। भरतजी की यह इच्छा भले ही हो, पर वे निर्णय का भार श्रीराम पर सौंपना चाहते हैं। श्रीराम भी यही कहते हैं कि जो भरत कहेंगे, मैं वही करूँगा, परन्तु वे स्पष्ट रूप से नहीं कहते कि मैं अयोध्या लौट चलूँगा।

महाराज जनक, ऐसी जटिल स्थिति में क्या उचित होगा। कैसा करने से धर्म की रक्षा होगी? और धर्म की रक्षा के साथ-साथ सारे समाज का भी हित होगा? यह समझ पाना आज कठिन जान पड़ रहा है। आप ज्ञान और कर्म के सांमजस्य-रूप हैं, मुझे विश्वास है कि ऐसी परिस्थिति में आप कोई-न-कोई समाधान देंगे।

इस सन्दर्भ में ध्यान इस सत्य की ओर जाता है कि वैसे साधारण व्यक्ति भी जिस सरलता के साथ धर्म और अधर्म की व्याख्या कर लेते हैं, उस सरलता से बड़े-बड़े महापुरुष भी धर्म की व्याख्या नहीं कर पाते; और नासमझी में यह गुण तो होता ही है कि व्यक्ति में जितना अज्ञान होता है, उतना ही साहस भी अधिक होता है, क्योंकि उसको शंका तो कहीं होती ही नहीं कि वह जो कुछ कह रहा है, वह सही नहीं होगा, इसलिये वह बड़ी सरलता से किसी को धार्मिक और किसी को अधार्मिक की उपाधि दे देता है। परन्तु जो 'धर्म' के मर्म को समझना चाहता है, उसको धर्म की व्याख्या इतनी सरल प्रतीत नहीं होती। उसे लगता है कि 'धर्म' शब्द का प्रयोग चाहे जितना किया जाता हो, किन्तु वस्तुतः धर्म के तत्त्व को हृदयंगम करना अत्यधिक कठिन है।

राम-चरित-मानस में विविध पात्रों के माध्यम से, धर्म की या भक्ति की या ज्ञान की जो व्याख्या प्रस्तुत की गई, वह सचमुच अपने आप में अनोखी है, अद्‌भुत है। धर्म-पराणय महाराज मनु हैं और धर्म-परायण राजा प्रतापभानु भी है। दोनों धर्म-परायण हैं, तथापि एक व्यक्ति ने दशरथ बनकर श्रीराम को पुत्र के रूप में पाया और दूसरे व्यक्ति ने दशमुख बनकर श्रीराम के द्वारा उसके वध की प्रक्रिया पूरी की। ऐसा क्यों हुआ? धर्म के साथ बड़ी कठिन समस्या है। आपने ग्रन्थों में पढ़ा होगा, वक्ताओं से सुना होगा और नित्य वन्दना में जो दोहा आपके समक्ष पढ़ा जाता है, वह है –

श्रीगुरुचरन सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि ।
बरनौ रघुबर बिमल जसु जो दायक फल चारि ।।२/१

गोस्वामीजी इस दोहे में कहते हैं कि मैं गुरुदेव के चरण-कमल के रज की वन्दना करता हूँ और अपने मन के दर्पण को उनके चरणधूलि के द्वारा स्वच्छ करने की प्रार्थना करता हूँ। भगवान श्रीराम का यह चरित्र चारों फलों को देने वाला है। साधारणतया तो व्यक्ति इसका यह अर्थ लेता है कि यदि हम भगवान राम के चरित्र का पारायण करेंगे, चाहे नवाह्न-पारायण के रूप में, चाहे मास-पारायण के रूप में या प्रतिदिन रामायण का पाठ करेंगे, तो हमें चारों फलों की प्राप्ति होगी। इसी श्रद्धा-भावना तथा विश्वास से प्रेरित होकर अनेक लोग पाठ करते हैं और उन्हें कई दृष्टियों से लाभ का

भी अनुभव होता है। किन्तु इस दोहे का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है। जब गोस्वामीजी यह कहते हैं कि भगवान श्रीराम का चरित्र चारों फलों को देने वाला है, तो उसमें एक बहुत बड़ा संकेत और सन्देश छिपा हुआ है। चारों फलों का नाम आप जानते ही हैं – अर्थ, काम, धर्म, और मोक्ष। कहा जाता है कि ये चार फल हैं। जैसे व्यक्ति जब वृक्ष लगाता है, तो फल के लिये लगाता है, इसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में इन चार फलों को पाने की इच्छा देखी जाती है। इच्छा देखी जाती है, या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि चारों फलों की उपलब्धि जीवन में होनी चाहिये। 'अर्थ' को द्रव्य, अन्न या कुछ भी कह लीजिये, पर संसार का समस्त व्यवहार अर्थ से ही जुड़ा हुआ है। व्यक्ति को शरीर की रक्षा करने के लिये और भरण-पोषण के लिये भी अर्थ तो चाहिये ही। अर्थ के अभाव में जिस व्यक्ति के जीवन में दरिद्रता होती है, वह कितना अधिक दु:ख का अनुभव करता है, यह रामायण में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है –

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। ७/१२०/१३

इसलिये व्यक्ति के जीवन में अर्थ की आवश्यकता तो है। व्यक्ति के जीवन में दूसरी अपेक्षा है 'काम' की। सृष्टि का यह क्रम है, सृष्टि का यह विस्तार 'काम' से जुड़ा हुआ है। भले ही वह भोग से जुड़ा हुआ है, पर भोग के साथ-साथ यह जो सृजन है, विस्तार है, वह मानो 'काम' के माध्यम से सम्पन्न होता है। इसलिये व्यक्ति के जीवन में दूसरी इच्छा काम की होती है। ये दो इच्छाएँ तो प्रत्यक्ष रूप से सभी व्यक्तियों के जीवन में दिखाई देती हैं।

परन्तु शास्त्र इसके साथ दो फलों की बात और कहता है। और वे यह कहते हैं कि अर्थ और काम के साथ-साथ व्यक्ति के जीवन में धर्म और मोक्ष – इन दो फलों की इच्छा भी होनी चाहिये। यह एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। भगवान श्रीराम ने घोषणा की कि मैं मनुष्य के रूप में जन्म लूँगा और चार रूपों में जन्म लूँगा। तो बड़ी सांकेतिक भाषा है। ब्रह्म तो एक ही है, पर यदि उसको मनुष्य के रूप में जन्म भी लेना है, तो एक स्थान में चार रूपों में जन्म लेने का अभिप्राय क्या है? इसकी कई रूपों में व्याख्या की गई है। गोस्वामीजी ने ज्ञानियों के सन्दर्भ से यह कहा कि ये जो मोक्ष के चार भिन्न-भिन्न रूप हैं –

सोहत साथ सुभग सुत चारी।
जनु अपबरग सकल तनु धारी।। १/३१४/६

ज्ञान की दृष्टि से, ये मोक्ष के ही चारों रूप हैं। जिसके जीवन में अर्थ और काम की इच्छा समाप्त हो गई है और जो धर्म से भी ऊपर उठकर मोक्ष पाना चाहता है, वह जब इन चारों भाइयों को देखता है, तो उसे यही लगता है कि ये उस मोक्ष के ही चार रूप हैं, जिसका वर्णन शास्त्रों तथा पुराणों में किया गया है। जिनकी दृष्टि योग या समाधिपरक है, उनकी अनुभूति का वर्णन गोस्वामीजी ने भगवान राम और श्रीसीता के विवाह के प्रसंग में किया। महाराज श्रीजनक के मण्डप में चारों राजकुमार और राजकुमारियों का जो दृश्य दिखाई दे रहा है, उसे जब योगी देखता है –

सुंदरीं सुंदर बरन्ह सह
सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था
बिभुन सहित बिराजहीं।। १/३२४/छ.४

योग की भाषा में ये जो चार अवस्थाएँ हैं, उनमें से जाग्रत, निद्रा और स्वप्न – जागना, सोना और सपने देखना – इन तीन अवस्थाओं का तो हम नित्य ही प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। परन्तु योग की मान्यता में एक अवस्था और है, जिसमें प्रवेश किये बिना व्यक्ति समाधिस्थ नहीं हो सकता। और जब तक वह समाधिस्थ नहीं होगा, तब तक उसे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होगा, इसीलिये योगशास्त्र ने जो चौथी अवस्था बतायी है उसका नाम है तुरीयावस्था। गोस्वामीजी कहते हैं कि ये चारों राजकुमारियाँ मानो चारों अवस्थाएँ हैं। और चारों राजकुमार उनके स्वामी हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय – ये चारों अवस्थाएँ मानो चारों राजकुमारियाँ हैं और विश्व, प्राज्ञ, तैजस तथा ब्रह्म – ये चारों उन चारों अवस्थाओं के स्वामी हैं। उनकी व्याख्या अभी मैं करूँ, तो बात एक भिन्न दिशा में चली जायगी। किसी वर्ष यहाँ पर ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी के आग्रह पर एक महीने सत्र रखा गया था, उस समय विवाह के सन्दर्भ में इस प्रसंग की व्याख्या की गई थी। तो योग की भाषा में उसका एक अर्थ हुआ, पर गोस्वामीजी इस प्रसंग को व्यावहारिक भाषा में भी रखते हैं – जब चारों भाइयों का विवाह सम्पन्न हुआ, तो महाराज दशरथ को बड़ी प्रसन्नता और सन्तोष की अनुभूति हुई। उन्होंने कहा –

मुदित अवधपति सकल सुत
बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पायउ महिपाल मनि
क्रियन्ह सहित फल चारि।। १/३२५

महाराज दशरथ को ऐसा लगा मानो उन्होंने चार क्रियाओं के साथ चारों फलों को पा लिया। तो चार भाइयों के रूप में मोक्ष की भी व्याख्या की जा सकती है। चार भाइयों के रूप में समाधियोग की भी व्याख्या की जा सकती है।

एक अन्य व्याख्या है कि ये चारों भाई चार फल हैं। मानो ईश्वर ने ही स्वयं को चारों फलों के रूप में प्रगट किया। उनके चरित्र यह बताने के लिये हैं कि आवश्यकता इन चारों की है, परन्तु यदि उनमें तारतम्य, सन्तुलन तथा सही क्रम नहीं होगा, इनमें से तीन फल व्यक्ति को कहीं-न-

कहीं भटका सकते हैं। तो इन चार फलों में धर्म भी है और उसके साथ-साथ अर्थ, काम तथा मोक्ष भी है।

अब यहाँ एक सांकेतिक क्रम है। भगवान श्रीराम के रूप में वे सबसे बड़े हैं। श्रीभरत उनसे छोटे हैं। लक्ष्मण उनसे छोटे हैं और शत्रुघ्न उनसे छोटे हैं। यदि हम इन चारों फलों को अपने जीवन में स्थान दें, तो सबसे बड़ा मोक्ष, उससे न्यून धर्म, उससे छोटा काम और उससे छोटा अर्थ। इसको यदि हम इस रूप में अपने जीवन में स्वीकार करें कि मोक्ष परम साध्य है। उसके बाद धर्म जो है, वह मोक्ष या परलोक की दिशा में बढ़ने का माध्यम है। अर्थ और काम लोक की समस्याओं से जुड़े हुए हैं। धर्म दोनों के बीच का एक मिलन-सेतु है। धर्म एक ओर लोक के लिये अर्थ और काम से भी जुड़ा हुआ है; और दूसरी ओर वह मोक्ष की दिशा में भी ले जाने वाला है।

प्रत्येक युग की समस्या यह है कि जीवन में धर्म को हम कौन-सा स्थान दें? धर्म यदि अर्थ और काम के द्वारा नियंत्रित हो गया, तब तो अनर्थ हो जायगा।

जिनके पास समृद्धि या धन है, वे धर्म की जैसी व्याख्या करना चाहें, यदि विद्वान् या गुरु उसी के अनुकूल व्याख्या कर दे, तब कहा जाएगा कि अर्थ के द्वारा ही धर्म का निर्णय किया गया। एक बड़े समृद्धिशाली सज्जन ने एक बार मुझे बड़े गर्व से बताया कि विवाह होने वाला था, तो उन्होंने तो पण्डितों को बुलाकर बता दिया कि विवाह का कार्य पैंतालिस मिनट में पूरा हो ही जाना चाहिये और उन पण्डितों ने उसे स्वीकार कर लिया। मैंने कहा – यह तो बहुत प्रसन्नता की बात नहीं है। यदि विवाह में धर्मशास्त्र की विधि की अपेक्षा है, तो उसके निर्णायक आचार्य होंगे या आप? आप कैसे निर्णायक हो गये? आप यह भी चाहते हैं कि कर्मकाण्ड हो, शास्त्र की विधि हो और आपको लगता है कि आप जितना कहें, उतने समय में ही उसे बाँधकर, आपकी इच्छा के अनुकूल वह किया जाय। इस प्रकार से जब सामने वाले व्यक्ति ने उसे स्वीकार कर लिया होगा, तो किसी-न-किसी तरह के प्रलोभन के कारण ही तो होगा। उसने मान लिया होगा कि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो शायद यह कोई दूसरा आचार्य बुला ले, जो उतनी देर में ही उसे पूरा करा दे। यह मनोवृत्ति आज बड़ी व्यापक है। धर्म के सन्दर्भ में भी यदि धन उसका नियामक हो जायगा, तब तो अनर्थ हो जायया। इसी प्रकार यदि काम धर्म का व्याख्याता बन जाय, हम अपने भोगों का समर्थन करने के लिये धर्मग्रन्थों की पंक्तियों का उद्धरण देने लगें, तो वह धर्म – अर्थ और काम का अनुगामी हो गया। आज एक बहुत बड़ी समस्या यह है कि हमारे जीवन में यदि धर्म की क्रिया है भी, तो वह अर्थ और काम का अनुगामी है। जबकि होना यह चाहिये कि अर्थ और काम की क्रिया धर्म के द्वारा नियंत्रित हो।

रामायण में आपको इसी क्रम का वर्णन मिलेगा, चारों भाइयों का दो-दो के रूप में एक विभाजन है। शत्रुघ्न और भरतजी एक साथ हैं और लक्ष्मणजी और श्रीराम एक साथ हैं। तो लक्ष्मण काम हैं, शत्रुघ्न अर्थ हैं, भरत धर्म हैं और श्रीराम मोक्ष हैं। यहाँ एक सूत्र दे दिया गया कि काम को मोक्ष के द्वारा नियंत्रित होना चाहिये। लक्ष्मण स्वतंत्र नहीं, वे चाहे जितने भी तेजस्वी या विलक्षण हों, पर उन पर नियंत्रण श्रीराम का होना ही चाहिये। इसका अर्थ है कि काम के ऊपर मोक्ष का नियंत्रण हो। उधर शत्रुघ्न अर्थ हैं, तो अर्थ के ऊपर धर्म का नियंत्रण हो। इसका अभिप्राय यह है कि काम की वृत्ति यदि मोक्ष की अनुगामी होगी, तो वह व्यक्ति को बड़ी सहजता से उन्नति की ओर ले जायगी। कई कामी व्यक्तियों का वर्णन आता है, जो आगे चलकर बड़े महान् सन्त हो गये। इसका एक मनोवैज्ञानिक तात्पर्य यह है कि काम में तीव्रतम सुख पाने की आकांक्षा को वह एक अन्य रूप में देखता है। नर-नारी के शरीरों के मिलन के माध्यम से जो सुख प्राप्त होता है, वही मिलन और सुख की आकांक्षा ब्रह्म से मिलने की प्रेरणा भी दे सकती है और देती भी है। यदि संसार में शारीरिक मिलन में व्यक्ति को परम सुख की अनुभूति होती है, तो ब्रह्म से मिलन होने पर कैसा दिव्य आनन्द आता होगा? अगर ऐसी वृत्ति उत्पन्न हो जाय, तो एक कामी की सुख पाने की आकांक्षा उसे ब्रह्म से मिलन की दिशा में भी प्रेरित कर सकती है। अत: काम को मोक्ष का अनुगामी होना चाहिये। इसीलिये शास्त्रों में एक ओर तो काम की निन्दा की गयी है और दूसरी ओर उसका चारों फलों में वर्णन भी किया गया है। परन्तु इसके आध्यात्मिक तात्पर्य को देखें, तो लंका में भी एक काम है और अयोध्या में भी एक काम है। लंका के काम का नाम है मेघनाद –

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहंकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी। वि. प. ५८/४

दूसरी ओर अयोध्या के काम हैं लक्ष्मण। बड़ी सुन्दर बात आती है। मेघनाद यदि किसी से डरता है, तो केवल हनुमानजी से। हनुमानजी ब्रह्मचारी और वैराग्यवान है। काम या तो ब्रह्मचारी से डर सकता है, या फिर वैराग्यवान से। पर भगवान ने जब मेघनाद के रूप में काम वध कराने का निर्णय लिया, तो यह कार्य उन्होंने हनुमानजी को नहीं सौंपा। वे इसे तत्काल पूरा कर सकते थे। प्रभु ने यह काम लक्ष्मण को सौंपा। भगवान का तात्पर्य यह था कि काम को पूरी तरह मिटा थोड़े ही देना है, इसीलिये उन्होंने अयोध्या के काम द्वारा लंका के काम का विनाश कराया। यही सूत्र है। काम रहे, पर वह अयोध्या वाला काम रहे, लंका वाला काम न रहे, इसीलिये उन्होंने यह कार्य लक्ष्मणजी को सौंपा।

तुम लछिमन मारेहु रन ओही । ६/७४/८

बड़ा अच्छा सूत्र है। मेघनाद रावण की आज्ञा का पालन करता है और लक्ष्मणजी भगवान राम की आज्ञा का पालन करते हैं। रावण मूर्तिमान मोह है और भगवान राम मूर्तिमान मोक्ष या ज्ञान हैं। दो विकल्प हैं – मोह का अनुगामी काम या मोक्ष का अनुगामी काम। काम के दोनों ही रूप हो सकते हैं। लंका का काम मोहानुगामी है और अयोध्या का काम मोक्षानुगामी है। तो काम का वह रूप कल्याणकारी होगा, जो मोक्ष या ज्ञान से जुड़ा होगा और उसी का अनुगामी होगा। काम यदि रावण से जुड़ा होगा, मोह से जुड़ा होगा, तो नि:सन्देह उसमें अद्भुत सामर्थ्य होगी। वह सारे देवताओं को परास्त कर देता है, इन्द्र को बाँधकर ले आता है।

बड़ी सांकेतिक भाषा है। मुझे स्मरण आता है – एक वक्ता, जो अपने आपको मेरा शिष्य कहते हैं, एक बार बड़े दुखी हुए। बोले – कल मैंने प्रवचन में इन्द्र और देवताओं की निन्दा कर दी, तो सभा का संचालन कर रहे यहाँ के एक बड़े विद्वान् ने यह कहते हुए मुझे रोक दिया कि मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। अभी इस नवाह्न-परायण यज्ञ में जिन देवताओं की हमने पूजा की, उन्हीं की आप मंच पर आलोचना करें, यह कैसे उचित हो सकता है? बेचारे संकोच के कारण कुछ बोल नहीं सके। मेरे पास आये थे। वस्तुत: कई बार लोग इस बात को समझ नहीं पाते। गंगाप्रसाद नाम के पुराने समय के एक विद्वान् थे। उनके ग्रन्थ में मैंने पढ़ा कि श्रीकृष्ण वेदों के विरोधी थे। और उन्होंने गीता का उद्धरण दिया कि वे अर्जुन से कहते हैं – जो सकामी लोग वेदों की फलश्रुति में विश्वास रखकर कहते हैं कि स्वर्ग आदि फल देनेवाले वैदिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, उनकी परमात्मा में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती –

वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन: ।। २/४२

उन्होंने एक ग्रन्थ लिखकर वेद विरुद्ध मत का प्रतिपादन किया। उनका तात्पर्य यह था कि श्रीकृष्ण ने यदि वेद के विषय में ऐसा कहा, तो वे वेद के विरोधी रहे होंगे। इसी प्रकार इस विद्वान् ने भी मान लिया कि यदि देवताओं की कोई निन्दा की गई, तो यह देवताओं का विरोध है।

इसका तात्पर्य क्या है? हम देवता की पूजा करते हैं, क्योंकि उन्होंने सत्कर्म किया, पुण्य किया, तभी उन्हें देवत्व की प्राप्ति हुई, अत: वे पूजा के पात्र हैं। देवत्व की प्राप्ति का मनोविज्ञान यह है कि मनुष्य को इस शरीर में वृद्धावस्था का कष्ट है, रोग का कष्ट है, भोगों से तृप्ति नहीं मिली है, अत: वह सोचता है कि यदि देवशरीर मिल जाय, तो सारे कष्ट-अभाव दूर हो जायेंगे। लोग सुनते हैं कि स्वर्ग में विहार के लिये अप्सराएँ मिलती हैं, व्यक्ति वृद्ध नहीं होता, वहाँ रोग नहीं होते, तो व्यक्ति को ऐसी प्रेरणा प्राप्त होती है कि हम सत्कर्म और पुण्य करके देवत्व प्राप्त करें। सत्कर्म करने के कारण उन्हें वन्दनीय ही मानना होगा। समाज में भी जब कोई अच्छा कार्य करता है, तो वह वन्दनीय ही है।

परन्तु उन्हें निन्दनीय बताने का अभिप्राय यह है कि यदि वस्तुत: यही जीवन का लक्ष्य होता, सबसे बड़ी उपलब्धि होती, तो इतना सब प्राप्त करने के बाद भी क्यों देवराज इन्द्र महाराजा दिलीप के अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा चुराते या ऋषिपत्नी अहल्या पर कुदृष्टि डालते? किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – हम लोगों के मनुष्य-शरीर में इतने रोग हैं और देवताओं का शरीर हमेशा नीरोग रहता है। इस पर उन्होंने व्यंग्य में कहा – नहीं भाई, देहवाला रोग देवताओं को भले ही न होता हो, पर मन का एक रोग तो देवताओं को भी है। उन्होंने यह भी कहा – आपके शरीर को रोग हो, तो दवा कर सकते हैं, पर देवता के साथ समस्या यह है कि उनके पास रोग तो है, पर उसकी दवा नहीं है। देवताओं का वह रोग क्या है? – ईर्ष्या का रोग। यहाँ भी समाज में एक व्यक्ति दूसरे से ईर्ष्या करता है। पर जब आपको ईर्ष्या होती है, तो आप दूसरे से आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं। पर देवताओं में भी ईर्ष्या तो होती ही है, क्योंकि जो जितना पुण्य करके वहाँ गया है, उसे उतना ही भोग मिलता है, उतनी ही अप्सराएँ मिलेंगी, उतने ही विहार करने के अवसर मिलेंगे – ऐसा शास्त्रों में वर्णित है। तो देवता जब अपने बगल वाले को देखते हैं, तो यह सोच-सोचकर कुढ़ते रहते हैं कि अरे, यह तो मुझसे अधिक विहार कर रहा है! उन्हें लगता रहता है कि अरे, मुझे तो इतना ही मिला है, इन्हें तो मुझसे इतना अधिक भोग मिला है। गोस्वामीजी ने व्यंग्य में लिखा – यह जो ईर्ष्या है, सौतिया डाह है, यह स्वर्ग में भी नहीं मिटता –

सरगहूँ मिटत न सावत ।। १८५/४

स्वर्ग की समस्या यह है कि वहाँ आप अपने कर्म की पूँजी बढ़ा नहीं सकते, यह सुविधा नहीं होती कि आप साधना करके और आगे बढ़ें। वहाँ आगे बढ़ने का तो प्रश्न ही नहीं है। आप जो लेकर वहाँ गये हैं, केवल उसी को खर्च करने का अधिकार है, नई पूँजी जोड़ने का जरा भी अधिकार नहीं है। तो इन्द्र स्वभावत: इतना ईर्ष्यालु है कि वह दिलीप के घोड़े को चुराकर ले जाता है, क्योंकि उनके सौ अश्वमेध यज्ञ पूरे होंगे, तो उन्हें इन्द्रपद प्राप्त होगा। परन्तु इस भ्रम में न रहियेगा कि यदि किसी ने सौ अश्वमेध किये, तो वह तुरन्त इन्द्र बन जायगा। शास्त्र कहते हैं कि सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवालों की एक सूची बनी रहती है। जब एक का काल समाप्त होता है, तब दूसरे की, फिर तीसरे की बारी आती है, अत: पता नहीं दिलीप कब इन्द्र बनते। पर इस ईर्ष्या की जरा कल्पना कीजिये – उसे इस बात का डर नहीं है कि मेरा इन्द्रपद छिन जायगा, डर इस बात का है कि मेरे बाद भविष्य

में कोई इन्द्र न बने। कैसी विडम्बना है? अत: जब देवताओं की आलोचना की जाती है, तो यह बताने के लिये की जाती है कि कर्म करनेवालों की हम भले ही पूजा करें, पर वे हमारे आदर्श नहीं हो सकते। क्योंकि भले कर्म करने के साथ-साथ उनके जीवन का दूसरा पक्ष भी तो हमारे सामने है।

जब यह वर्णन आता है कि इन्द्र ने महर्षि गौतम की पत्नी अहल्या को पाने के लिये गौतम का नकली वेश बनाया, तो इसका अर्थ यह बताना है कि यदि व्यक्ति को भोगों से ही तृप्ति मिलती, तो जो इन्द्र स्वर्ग के स्वामी हैं, जिनके पास असंख्य अप्सराएँ हैं, परन्तु भोग की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि इतने भोगों के प्राप्त होने पर भी इन्द्र को तृप्ति नहीं है; यह बताने के लिये और सावधान करने के लिये है कि व्यक्ति इन भोगों को पाने के लिये कहाँ तक नीचे उतर सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि आप कल से इन्द्र की पूजा करना ही बन्द कर दें, इसका अर्थ यह नहीं कि देवताओं की पूजा बन्द कर देनी चाहिये। पर सावधानी की बात यह है कि हम अच्छे कर्म करने वाले का सम्मान तो करें, क्योंकि उससे हममें अच्छे कर्म करने की वृत्ति आवेगी, समाज में सत्कर्म को प्रोत्साहन मिलेगा, परन्तु इसके साथ-साथ हम यह समझ लें कि उसके जीवन का एक दूसरा पक्ष भी है और वह हमारा आदर्श नहीं है। इसीलिये रामायण में इन्द्र के लिये कहीं तो अच्छी-से-अच्छी उपाधि भी दी गई है। भगवान राम दुल्हे के वेश में जा रहे हैं तो गोस्वामीजी लिखते हैं – इन्द्र बड़े सुजान है –

रामहि चितव सुरेस सुजाना ।। १/३१६/६

किसी को लगेगा कि बीच-बीच में तो आप उनके लिये बड़े कठोर-से-कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं और कहीं 'सुजान' तक कह देते हैं। अयोध्याकाण्ड में कह देते हैं – युवा, कुत्ता और इन्द्र बराबर हैं –

सरिस स्वान मघवान जुबानू ।। २/३०१/८

यह व्याकरण का एक सूत्र है, अत: इसमें रुष्ट होने की बात नहीं है। व्याकरण में एक ही सूत्र के द्वारा ही स्वान्, मघवान् और युवान् इन तीनों शब्दों के रूप बनाये जाते हैं।

जब भरत भगवान के पास आ रहे हैं और इन्द्र चेष्टा करता है कि भरत की श्रीराम से भेंट न हो। वह माया का प्रयोग करता है, ताकि अयोध्यावासी किसी तरह वन से वापस लौट जाने के लिये उन्मुख हों, तो इन्द्र की वृत्ति पर भगवान को हँसी आ जाती है और व्याकरण का वह सूत्र याद आ गया और वे कहते हैं एक ही सूत्र में कुत्ता, युवक तथा इन्द्र – तीनों का उल्लेख है और इन्द्र उसी तरह की वृत्ति वाला है भी –

लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू ।
सरिस स्वान मघवान जुबानू ।। २/३०१/८

पहले भी नारद को देखकर इन्द्र के मन में वही वृत्ति आई तो गोस्वामीजी ने बड़ा कठोर शब्द लिख दिया। नारदजी को तपस्या करते देखकर इन्द्र को लगा कि ये मेरा पद पाने के लिये ही कर रहे हैं, तो इन्द्र की क्या दशा हुई? बोले – जैसे कोई कुत्ता हड्डी को चूस रहा था और उधर से सिंह निकला, तो कुत्ता डरा कि सिंह कहीं मेरी यह हड्डी छीन न ले, अत: यहाँ से भाग निकलना चाहिए। ठीक यही दशा इन्द्र की है –

सूख हाड़ लै भाग सठ
स्वान निरखि मृगराज ।
छीनि लेइ जनि जान जड़
तिमि सुरपतिहि न लाज ।। १/१२५

इसका एक दूसरा पक्ष भी है। जब लंका का युद्ध समाप्त हुआ, तो इन्द्र भगवान राम के सामने आ गये।

दोनों पक्ष बताने का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति धर्म के द्वारा भोगों को प्राप्त कर लेता है उस व्यक्ति की समस्या है भोगजन्य परिणाम। यदि धर्म का परिणाम भोग है, तो भोग का भी तो कोई परिणाम होना चाहिये। हमारे परिचित एक मस्त डी.आई.जी पुलिस थे, बड़े ही मुँहफट और बिना संकोच बोलने वाले, कथा के भी बड़े प्रेमी थे। एक बार एक नेता आये और कहने लगे, "आजकल तो लोगों की आलोचना की प्रवृति हो गई है; हम लोग इतना जेल गये, कष्ट उठाया, त्याग किया और आज यदि हमारे पास सत्ता और भोग है, तो इसमें बुरा मानने की क्या बात है?" तो ये पुलिस अधिकारी बड़े विनोदी थे, बोले, "बिल्कुल ठीक है, आपने इतना कष्ट उठाया, तो आपको इतना भोग मिला, पर भोग से रोग भी तो होता है, तो इससे बुरा क्यों मानते हैं? लोग यदि ऐसा कहते हैं, तो यह भोग का परिणाम है; इससे बच जायेंगे क्या?"

भोगों के साथ जुड़ा हुआ यह पक्ष, यह बताने के लिये है कि हम सत्कर्म तो करें, पर सत्कर्म करते हुए, यदि हम जीवन का लक्ष्य वही बना लें, जो देवताओं ने बनाया है, तो हमारा सत्कर्म हमें महान् लक्ष्य की ओर न ले जाकर, अन्तत: भटका देगा, हमें नीचे उतार देगा। यह इन्द्र की एक दुर्बलता है। उसकी दुर्बलता यह है कि वह रावण को बुरा तो मानता है, धर्म करनेवाले लोग पाप करनेवालों को बुरा तो मानते हैं, लेकिन उनसे समझौता करने में कोई संकोच नहीं करते। उनको लगता है कि यदि यह शक्तिशाली है और हमारे भोगों को छीन सकता है, तो चलो इसको हाथ जोड़ लें तो क्या बुरा है? यही देवताओं की भी दशा है। इसीलिये वर्णन आता है कि जब भगवान राम-रावण का युद्ध हुआ, तो देवता मन से तो निश्चित रूप से राम की जीत चाहते हैं, लेकिन उनके मन में रावण के सामर्थ्य का आतंक है, इस बात का हम पग-पग पर प्रत्यक्ष परिचय पाते हैं। भोगी लोगों की यही दुर्बलता होती है। देवता जब देखते हैं कि

रावण सिर कटने पर भी नहीं मरता, भुजा कटने पर भी नहीं मरता, उसे कोई कैसे मारेगा? उन्हें सन्देह हो जाता है कि राम भी इसे मार सकेंगे या नहीं? आप समझते हैं कि वे ईश्वर को मानते तो थे ! मानना एक बात है, परन्तु ईश्वर पर श्रद्धा टिकी रहना क्या सरल है? यह आप बहुतों के जीवन में पायेंगे। अत: इन्द्र कई दिनों तक इस ऊहापोह में रहा कि राम के लिये रथ भेजना ठीक रहेगा या नहीं? कहीं रावण जीत गया, तो सबसे पहले हमारी ही खबर लेगा कि युद्ध में तुमने राम की सहायता के लिये रथ भेजा था। अत: नहीं भेजा। विभीषण बेचारे संशयग्रस्त हो गये। भगवान से कहा, तो उन्होंने बता दिया कि जिस रथ से विजय प्राप्त की जाती है, वह यह रथ नहीं है। भगवान ने इन्द्र से रथ माँगा भी नहीं था, पर रथ न माँगने के बाद भी जब भगवान राम रावण को नित्य हराने लगे, तो इन्द्र को लगा कि जीत तो राम की ही होगी और तब उसने सोचा कि रथ भेज देना ही बुद्धिमानी होगी, नहीं तो यह कहा जायगा कि वाह, ऐसे युद्ध में तुमने कोई सहायता नहीं की ! इसलिये जिस व्यक्ति का अपना भोग और स्वार्थ होता है, वह अपने भोगों तथा स्वार्थ की रक्षा के लिये किसी से भी – रावण के साथ भी समझौता कर सकता है। इन्द्र को जब लगा कि विजय तो राम की होगी, तो उसने राम के लिये अपना रथ भेजा। बड़ा दिव्य तेजोमय रथ था। भगवान श्रीराम ने उस रथ को देखा और प्रसन्न होकर रथ पर बैठ गये।

इस सन्दर्भ में मुझे वह संस्मरण नहीं भूलता। जब मैं होशंगाबाद गया था, तो एक तेजस्वी युवक समाजसेवी ने मुझे पत्र में लिखकर भेजा, "जब मैं इस पंक्ति को पढ़ता हूँ, तो मेरी तुलसीदास और राम – दोनों पर से श्रद्धा हट जाती है। राम ने नहीं कहा, इन्द्र ने रथ नहीं भेजा, राम को रथ की आवश्यकता नहीं थी; और तीन दिन बाद स्वार्थी इन्द्र रथ भेजा," उसने लिखा, "तो यदि राम के स्थान पर मैं होता, तो लात मारकर रथ को लौटा देता, ले जा, तेरे रथ की मुझे कोई जरूरत नहीं है। ये कैसे राम हैं कि रथ आया, तो बड़े प्रसन्न होकर बैठ गये। कम-से-कम एक बार तो कहते कि नहीं, मुझे रथ की कोई आवश्यकता नहीं है। बड़े प्रसन्न हो गये !" मैंने यही कहा कि "आप में और राम में यही तो अन्तर है, इससे अधिक मैं और क्या कह सकता हूँ।"

श्रीराम प्रसन्न क्यों होते हैं? यदि ईश्वर कहीं पुराना खाता देखने लग जाय, तब तो आपमें और हममें से किसी का कल्याण नहीं होनेवाला है। यदि ईश्वर सारे पुराने खाते खुलवाये कि इसने जो अगणित जन्म लिये, उसमें क्या-क्या कर्म किये, तो क्या होगा? यह तो अच्छा है कि ईश्वर पुराने कर्मों पर दृष्टि नहीं डालता। जो वर्तमान में आया है, उससे यह नहीं पूछते कि इतने दिनों तक क्यों नहीं आया ! कहते हैं – इतने दिनों तक नहीं आया, इस पर दृष्टि डालने की क्या जरूरत है, आज तो आ गया न ! आ गया, यही ठीक है। मान लीजिये कोई रोगी अपने रोग को छिपाये, बहुत दिनों तक छिपाये रखे, चिकित्सा कराये भी तो नासमझ डाक्टरों से कराये और उसके बाद किसी बहुत योग्य चिकित्सक के पास जाये, तो क्या उसे यह कह देना चाहिये कि तुम इतने दिनों तक क्यों नहीं आये? तुम इतने दिनों बाद आ रहे हो, तो हम तुम्हारी चिकित्सा नहीं करेंगे, तुम्हें दवा नहीं देंगे। यह योग्य चिकित्सक का धर्म नहीं है।

भगवान श्रीराम का तात्पर्य था कि ठीक है, इन्द्र ने अब तक नहीं समझा तो क्या हुआ, चलो, आज तो समझ गया, आज तो आ गया। भाषा कितनी सांकेतिक है? इसी रथ पर बैठकर भगवान ने रावण का वध किया था। वे तो बिना रथ के भी वध कर देते, इसमें सन्देह नहीं। आप जानते हैं कि इन्द्र जिस पर बैठकर रावण से बार-बार हारता रहा, उसी पर बैठकर श्रीराम ने रावण को परास्त कर दिया। इन्द्र का रथ माने धर्म का रथ। पर भगवान ने अपने चरित्र के द्वारा संकेत दे दिया कि पुण्य के रथ पर आरूढ़ होकर अगर आप भोग में ही रत रहनेवाले हैं, तो पाप को परास्त नहीं कर सकते। जब ईश्वर उस पुण्य के रथ पर विराजमान होगा, तो वह पुण्य उपयोगी हो जायगा, धन्य हो जायगा। इस प्रकार ईश्वर ने पुण्य के उस रथ की सार्थकता की ओर संकेत किया। भगवान प्रसन्न हो गये कि आज इन्द्र के मन में यह वृत्ति आई कि अब यह रथ ईश्वर को अर्पित कर देना चाहिये और उसने रथ भेजा। ❖ **(क्रमश:)** ❖

ईश्वर अंश जीव अविनाशी

जल और उसका बुलबुला वस्तुत: एक ही हैं। जैसे बुलबुला जल से ही पैदा होता है, जल पर ही रहता है और अन्त में जल में ही समा जाता है; वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा वस्तुत: एक ही हैं। उनमें भेद केवल उपाधि के तारतम्य का है; एक पराधीन है और दूसरा स्वाधीन।

सारगाछी की स्मृतियाँ (१९)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक-ज्योति के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

६-३-१९६० (बाकी)

जो लोग हमलोगों के यहाँ से दीक्षा लेते हैं, उससे शुभ संस्कार बनेगा और वह संचित रहेगा ही।

एक बाह्य और आन्तरिक दिनचर्या हो जाने से अधिक कोई समस्या नहीं रहती है। मन के सही सुर को पकड़ना चाहिये। माँ सारदा ने किसी संन्यासी के कपाल में सिंदुर देखकर उसे पोंछने के लिये कहा। क्योंकि अन्दर का भाव बाहर क्यों दिखाओगे?

एक युवक बीच-बीच में महाराज के पास आते हैं। वे एक विद्यालय में शिक्षक हैं, किन्तु विद्यार्थियों को मारते-पिटते हैं। उनका यह व्यवहार सुनकर महाराज जी ने कहा – "देखो, आदर्श बहुत कम लोगों के मस्तिष्क में घुसता है। मार-पीट करना निन्दनीय है, वह उसे नहीं समझता है। अभी उसकी आसुरीशक्ति बढ़ रही है, वह असुर-भाव के आचरण करने के लिये विवश है। किसी से कोई गलती हो जाने पर उसे अकेले बुलाकर समझाने से, उसे सुधारा जा सकता है। इस बात को ये लोग सोचना ही नहीं चाहते हैं। कई बार चुपके से बुलाकर बोलना पड़ता है – अरे तुमने ऐसा कार्य कर दिया जिससे हम लोगों के मुँह में कालिख लग गयी ! इस प्रकार सुधार होता है। बिना-मारे-पिटे शिक्षा देने में बहुत विचार करना पड़ता है, सोचना पड़ता है कि कैसे उसे सुधारा जा सकता है। असली बात है कि कोई बुद्धि का उपयोग नहीं करना चाहते हैं। यदि बदमाश लड़का है, तो उसके लिये तो बाल-कारागार – बाल-सुधारगृह है। देखो, हमलोगों के स्कूल खोलने का उद्देश्य है – मनुष्य के अन्दर जो पूर्णता विद्यमान है, उसको प्रकट कराना। किससे लड़कों की उन्नति होती है, यह देखना है। कैसे मेरा अधिकार रहेगा, उसे देखने की आवश्यकता नहीं है।"

२१-३-१९६०

हमलोग श्रीरामकृष्णदेव के अनुयायी हैं। हमलोगों की विशेषता हैं। हमलोग किसी भी धर्म को खराब नहीं कहते हैं। यदि कोई इस्लाम धर्म की निन्दा करता है, तो हम कहेंगे – क्या तुम कुरान पढ़े हो? क्या तुमने साधना किया है? अच्छी तरह से सब देखो, सुनो, तभी तो तुम्हारी बातों का मूल्य रहेगा !

लोग जो कुछ कहेंगे, उसे ही नहीं मान लेना। उसे विचारपूर्वक ग्रहण करना पड़ेगा। कुछ बातों को सुनते ही मन-ही-मन एकदम अस्वीकार कर देना और कुछ बातों को जमा करके रख देना, बाद में अवसर मिलने पर उसे शास्त्रों के साथ मिलाकर तब ग्रहण करना। श्रोता तीन प्रकार के होते हैं – प्रथम श्रोता, जो सुनते हैं, उसे ही विश्वास करते हैं। वे लोग अधम स्तर के हैं। द्वितीय श्रोता, मध्यम स्तर के हैं, वे लोग जो सुनते हैं, उसे शास्त्रों के साथ मिला लेते हैं अर्थात् विचार करते हैं। तृतीय श्रोता, केवल सुनकर रखते हैं, वे दूसरे की बातों पर विश्वास नहीं करते हैं। वे लोग स्वयं देख कर विश्वास करते हैं। 'दशावतार चरित्' में जिन चरित्रों, लीलाओं का वर्णन किया गया है, वे सभी विश्वास के योग्य नहीं हैं, पौराणिक हैं। श्रीकृष्ण के जीवन का अनेकों प्रकार से वर्णन किया गया है। जन-साधारण के लिये पुराणों में बृहत रूप से लिखना पड़ा है। सामान्य जनता को समझाने के लिये वैसे ही कहना पड़ता है। ईश्वर को जानना है, तो कठोर तपस्या करनी पड़ती है, यह बात कहने से कोई समझेगा नहीं। उन लोगों को बोलना पड़ता है – साठ हजार वर्षों तक सिर नीचा करके तपस्या करने से, तब उन्हें (ईश्वर को) प्राप्त किया जाता है। तब लोग समझते हैं कि ईश्वर क्या वस्तु है ! ये सब पौराणिक बातें हैं। इन सबको वेदों का प्रयोग – Experiment कहा जा सकता है। मनुस्मृति देश-काल-पात्र के अनुसार परिवर्तनीय होती है, किन्तु वेद के सत्य शाश्वत हैं। उनके तात्त्विक सिद्धान्तों की उपनिषदों में व्याख्या की गयी है। पुराणों में परीक्षण करके, व्यवहार में आचरण करके समझा दिया गया है। कैसे दया, त्याग, निष्ठा, श्रद्धा, सत्यवादिता, प्रेम एवं अनुराग रहने से ईश्वर को प्राप्त किया जाता है, इन सबको पुराणों में मानव-जीवन के चरित्रों के द्वारा समझा दिया गया है।

२५-३-१९६०

प्रश्न – महाराज जी, क्या ईश्वर जिसको चाहें मुक्ति दे सकते हैं?

महाराज – क्या मूर्ख की तरह बात कर रहे हो ! वे तो सब कुछ बने हुये हैं। वे अपनी इच्छा से इस प्रकार विभिन्न रूपों में सजे हुये हैं और इच्छा करने से ही स्वरूप में जा सकते हैं।

प्रश्न – किन्तु वाराह अवतार में तो शिवजी को आकर ठीक करना पड़ा था !

महाराज – वे सब पौराणिक बातें हैं। देखो, मुक्ति किसी को नहीं दिया जा सकता है। जो चाहता है, वही पाता है, जो नहीं चाहता, वह नहीं प्राप्त करता है। साक्षात् ईश्वरी (श्रीश्रीमाँ सारदा) गुरु रूप में मुझे मंत्र दी थीं। यदि मैं उनसे मुक्ति माँगता, तो मुझे उसी समय मुक्ति मिल सकती थी, किन्तु उस समय नहीं माँगा। श्रीमाँ ने भी तो हाथ दिखाकर कहा है – ''मुक्ति जब चाहे दी जा सकती है, किन्तु श्रद्धा-भक्ति नहीं दी जा सकती।''

प्रश्न – श्रीचैतन्यदेव ने तो कहा है कि सबकी मुक्ति होगी।

महाराज – अरे बाबा, हमारे ईश्वर ऐसे मार-पीट कर मुक्ति नहीं देते हैं। मुक्ति की इच्छा नहीं रहने से मुक्ति नहीं मिलती है। एक दिन तो सबकी ही मुक्ति होगी।

प्रश्न – तब और क्या करना है, जब एकदिन मुक्ति होगी ही, तो हाथ-पैर मोड़कर चुपचाप बैठा रहता हूँ।

महाराज – किन्तु यदि शीघ्र मुक्ति-प्राप्त करना चाहते हो, तो कोशिश करनी होगी। पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम है कृपा। यदि देखना कि किसी का ईश्वर के लिये जप या तपस्या में मन लगा है और प्रयत्न कर रहा है, तब जानना कि उस पर ईश्वर की कृपा हुई है। क्योंकि उनकी कृपा के बिना पुरुषार्थ या प्रयास नहीं होता है। यही सत्य और अन्तिम बात है।

''उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।''

तुम जिस सम्पत्ति को तिल-तिल करके बड़े श्रम से जमा किये हो, उसे किसमें खर्च करोगे, यह निर्धारित कर लिया है न? क्या समान खरीदोगे? देखो, सम्पत्ति को कहीं नदी-नाले में मत फेंक देना। देखा है न, नदी का जल स्वच्छ एवं स्थिर होने पर उसके तल की वस्तु दिखायी पड़ती है। वैसे ही मन स्थिर और निर्मल होने पर अपने भीतर की वस्तु को देख सकोगे। सबके भीतर एक विशाल जलाशय या कुंड है, जिसका पानी किसी भी तरह से समाप्त नहीं होता है। नाला-नहर खोदकर उसके साथ जोड़ दो, तो अपार सम्पत्ति के स्वामी बन जाओगे। उसकी ही एक-एक नहर, नाले, स्रोत ईसा मसीह, मोहम्मद पैगम्बर और श्रीचैतन्यदेव हैं। (किसी सेवक को) उस दावात को ले आओ। इसके अन्दर क्या है?

सेवक – यह तो खाली दावात है।

महाराज – नहीं, इसमें आकाश है। यदि दावात को तोड़ दो, तो इसके भीतर का आकाश कहाँ जायेगा?

सेवक – क्यों, घर के आकाश के साथ मिल जायेगा।

महाराज – घर को तोड़ दें, तो?

सेवक – बाहर के आकाश के साथ मिलकर एकाकार हो जायेगा।

महाराज – उसी प्रकार हमलोगों का 'कच्चा मैं' टूट जाने पर 'बड़ा मैं' के साथ मिल जाता है।

प्रश्न – एक साधक बड़ी निष्ठा से साधन-भजन कर रहा है। कुछ आगे भी बढ़ गया, क्या उसके बाद भी उसे सावधान रहना पड़ेगा ?

महाराज – मरबे साधू उड़बे छाई। तबे साधूर गुन गाई ।।
हो मरण जब साधु का, उड़ने लगे तन-राख गगन में।
तभी उनके पावन गुणों को, गाना जग के जन-जन में ।।

एक जन्म बीत जाने पर दूसरा जन्म आने में और कितना समय लगेगा, उसका क्या ठिकाना है! पुनः मानव-जन्म पाओगे, वह भी निश्चित नहीं है। कुत्ता, बन्दर के जन्म से होते-होते मनुष्य-जन्म पाये हो, क्या यह सुअवसर छोड़ने योग्य है? कमर कसकर तीव्र निष्ठा से लगना पड़ता है। इस संसार में सब कुछ माया का खेल है। इसकी कोई व्याख्या नहीं मिलती है। जब मृत्यु के समय मन में शक्ति नहीं रहेगी, मन पर कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा, तब क्या चिन्तन करोगे? इसलिये कमर कसकर निष्ठापूर्वक लग जाओ।

❖ (क्रमशः) ❖

भगवत्-प्राप्ति का उपाय

इस दुर्लभ मानव-जन्म को पाकर भी जो इसी जीवन में ईश्वर को पाने की चेष्टा नहीं करता उसका जन्म निरर्थक है। ईश्वर का नाम जपो, उनका गुणगान करो, सत्संग करो। बीच बीच में ईश्वर के भक्तों तथा साधु पुरुषों के दर्शन करो। मनुष्य का मन यदि दिन-रात दुनियादारी, सांसारिक कर्तव्यों और दायित्वों में ही उलझा रहे, तो वह ईश्वर का चिन्तन नहीं कर सकता; कभी-कभी एकान्त में जाना और ईश्वर का चिन्तन करना अत्यन्त आवश्यक है।

– *श्रीरामकृष्ण*

स्वामी अखण्डानन्द के सान्निध्य में

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ-मिशन के ब्रह्मलीन अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने सारगाछी रामकृष्ण मिशन आश्रम में मार्च १९७२ में उक्त आश्रम के संस्थापक श्रीरामकृष्ण-शिष्य तथा गंगाधर महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी अखण्डानन्दजी के संस्मरण सुनाये थे। बाद में ये 'अमृतेर सन्धाने' नामक बँगला पुस्तक में संकलित हुए। उसी का स्वामी विदेहात्मानन्दजी कृत हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

पूजनीय गंगाधर महाराज जब शुरू-शुरू में ठाकुर के पास गये, उन दिनों वे बड़े कट्टर नैष्ठिक जीवन बिताते थे। स्वयं पकाकर निरामिष भोजन करते। पान नहीं खाते। ठाकुर के कहने पर उन्होंने माँ-काली का प्रसाद खाया। प्रसाद के बाद उनसे एक पान भी खाने को कहा। आगा-पीछा करते हुए गंगाधर महाराज ने पान भी खाया। उसके बाद ठाकुर उनसे बोले, "देख, नरेन (विवेकानन्द) सौ पान खा लेता है, मांस-मछली – सब खाता है, परन्तु जब रास्ते पर चलता है, तो सब कुछ ब्रह्ममय देखता है। भगवान का साक्षात्कार करना ही सच्चा धर्म है।"

इस प्रकार ठाकुर ने गंगाधर महाराज को प्रत्यक्ष उपदेश के द्वारा सच्चे धर्म का स्वरूप समझा दिया था। उपवास, निरामिष खाना, गंगास्नान करना, मन्दिर में जाना आदि धर्म नहीं, बल्कि भगवान का दर्शन करना ही असल धर्म है। प्राय: लोग इन बाहरी आचार-अनुष्ठानों मात्र को धर्म मानकर भूल करते हैं। इसीलिये बीच-बीच में महापुरुष लोग आकर अपने जीवन के आचरण तथा उपदेशों द्वारा धर्म का सच्चा मर्म समझा जाते हैं। उनका दृष्टान्त देखकर ही हम लोग धर्म के सही मार्ग पर चल सकते हैं। भगवान को प्राप्त करना ही सच्चा धर्म है। अपने भीतर की पूर्णता के विकास को ही धर्म कहते हैं। स्वामीजी ने 'राजयोग' ग्रन्थ में यही बात कही है। भगवान का दर्शन और प्रेम करना ही सच्चा धर्म है। केवल आचारों-अनुष्ठानों को धर्म मानने पर हम लोगों में धर्म के विषय में संकीर्ण मनोवृत्ति आ जाती है।

श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद उनके कुछ त्यागी शिष्य घर-द्वार छोड़कर वराहनगर मठ में सम्मिलित हो गये। परन्तु गंगाधर महाराज मठ में नहीं रहे। वे तपस्या तथा तीर्थभ्रमण हेतु उत्तराखण्ड – हिमालय में चले गये। परिव्राजक संन्यासी के रूप में विभिन्न तीर्थों तथा विभिन्न स्थानों में भ्रमण करने की ओर उनका विशेष आकर्षण था। उन्होंने बताया था कि उनकी इच्छा थी कि वे हिमालय को पार करके पैदल ही तिब्बत तथा मध्य एशिया होते हुए बेयरिंग द्वीपसमूह में जाकर समुद्र-स्नान करें।

परिव्राजक संन्यासी के जीवन के प्रति तीव्र अनुराग होने पर भी वे स्वामीजी के आदेश पर नीचे उतर आये और स्वयं को संघ की सेवा में झोंक दिया। स्वामीजी के प्रति उनका स्नेह-प्रेम इतना असीम था कि स्वामीजी के प्रति इसी प्रेम तथा आकर्षण के चलते ही उन्होंने अपनी रुचि तथा लगाव का परित्याग कर दिया था। परिव्रज्या के दिनों में भी वे सुयोग पाते ही स्वामीजी से जा मिलते और दोनों आनन्दपूर्वक साथ-साथ भ्रमण करते। बाद में स्वामीजी ने उन्हें अकेले जाने को कहकर स्वयं को उनसे अलग कर लिया। परन्तु स्वामीजी का संग न मिलने पर भी उनके पीछे-पीछे भ्रमण करने लगे। स्वामीजी के प्रति प्रेम के कारण ही वे स्वामीजी को ढूँढ़ निकालते। स्वामीजी के प्रति उनका यह आकर्षण ही उनके जीवन का एक अन्य वैशिष्ट्य है।

परिव्राजक जीवन में गंगाधर महाराज ने भी स्वामीजी के समान ही अनेक देशी राजाओं के राज्य में भ्रमण किया था। वहाँ के गरीब-दुखियों की दशा देखकर वे दुख से अभिभूत हो गये। उन्होंने उन लोगों के दुख तथा दुर्दशा दूर करने हेतु राजा तथा राज-कर्मचारियों को उपदेश दिये। उन्होंने स्वयं भी उन लोगों के बीच नारायण-ज्ञान से सेवाकार्य आरम्भ किया।

शिक्षा के प्रसार की ओर गंगाधर महाराज की विशेष दृष्टि थी। संस्कृत-शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु वे आजीवन प्रयास कर गये हैं। उनकी इच्छा थी कि ठीक-ठीक सुर-छन्द तथा उच्चारण के साथ भारत में वेदविद्या का अभ्यास किया जाय। जामनगर में उन्होंने एक वेद-विद्यालय की स्थापना की थी। वे स्वयं वेदपाठ सुनते। स्तोत्रों की अच्छी आवृत्ति करते। बाद के दिनों में भी वे सबको संस्कृत भाषा तथा वेद-विद्या के अभ्यास में प्रोत्साहन देते रहते थे।

खेतड़ी राज्य की आम जनता के अभाव तथा दुख-दुर्दशा को देखकर वे बड़े अभिभूत हो उठे थे। उन्होंने सोचा कि इन लोगों के लिये कुछ करना होगा। उन्होंने स्वामीजी को एक पत्र लिखा। स्वामीजी ने उनकी शिक्षा-प्रसार तथा नारायण-सेवा की इच्छा को खूब प्रोत्साहन दिया। स्वामीजी का निर्देश पाकर उन्होंने खेतड़ी में ५० छात्रों के साथ एक विद्यालय शुरू किया। देखते-ही-देखते विद्यालय में छात्रों की संख्या २५० तक जा पहुँची। वहाँ उन्होंने वेद-विद्यालय की भी स्थापना की। इसी प्रकार उन्होंने उदयपुर राज्य में भी गरीब-दुखियों के लिये कई सेवामूलक कार्य किये। नर-नारायण-सेवा के भाव ने सहज रूप से ही उनके चित्त पर अधिकार कर लिया था।

अमेरिका से लौटने के बाद स्वामीजी ने जब रामकृष्ण मिशन के आदर्श के रूप में जनसेवा का कार्य आरम्भ करने की इच्छा व्यक्त की, तो कई लोग उनके इस भाव का तात्पर्य ही नहीं समझ सके। यहाँ तक कि उनके कुछ गुरुभाइयों के मन में भी द्विधा तथा संशय उत्पन्न हुए। परन्तु गंगाधर महाराज ने बड़े सहज भाव से नर-नारायण-सेवा के माध्यम से 'अपनी मुक्ति तथा जगत के कल्याण' के आदर्श को अपना लिया था।

पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) के मन में भी स्वामीजी के कर्मयोग की नवीन साधना के विषय में संशय था। उनके प्रश्न उठाने पर स्वामीजी ने उन्हें समझा दिया था कि शिवज्ञान से जीवसेवा के माध्यम से 'अपनी मुक्ति (ब्रह्मज्ञान) तथा जगत् का हित' – दोनों ही सधते हैं। वर्तमान विश्व को यही स्वामीजी का नवीन अवदान है। बाबूराम महाराज ने भी वाराणसी में रहते समय स्वामीजी के साहित्य का भलीभाँति अध्ययन किया था और उनकी नर-नारायण-सेवा का माधुर्य समझ गये। बाद के दिनों में वे हम सभी को स्वामीजी के इसी सेवाधर्म की बात विशेष जोर देकर समझाते थे, "स्वामीजी कह गये हैं, 'कर्मयोग ही – नर-नारायण-सेवा का भाव ही मेरा नवीन अवदान है।' " पूज्यपाद राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) भी स्वामीजी के इसी भाव में हम लोगों को अनुप्राणित करते। वे कहते, "बहुत-से जन्म तो व्यर्थ ही चले गये हैं, एक जन्म स्वामीजी के भाव के अनुसार कार्य करते हुए भी चला जाय। परन्तु मैं तुम लोगों से कहता हूँ – स्वामीजी महापुरुष थे। यदि तुम लोग उनके आदेशानुसार कार्य करो, तो धन्य हो जाओगे, मुक्त हो जाओगे।"

स्वामीजी का 'शिवज्ञान से जीवसेवा' का भाव वस्तुत: ठाकुरजी का ही अवदान है। स्वामीजी के मतानुसार 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' (अपनी मुक्ति और सबका हित) – यही संन्यासी का आदर्श है। प्राचीन काल के साधु-संन्यासी समाज में नहीं रहते थे। निर्जन स्थानों में, पर्वत की गुफाओं में ध्यान आदि करते हुए अपनी मुक्ति की उपलब्धि करते थे। उन्हें समाज-सेवा का कोई भी कार्य नहीं करना पड़ता था।

सर्वप्रथम स्वामीजी ने ही संन्यासियों को समाज-सेवा के माध्यम से अपनी मुक्ति-साधना का निर्देश दिया। पहले लोगों में ऐसी धारणा प्रचलित हो गयी थी कि कामकाज के माध्यम से भगवत्प्राप्ति असम्भव है। क्योंकि भगवान को पाने के लिये 'निवात-निष्कम्प दीपशिखा' (वायुहीन स्थान में रखी स्थिर ज्योति) के समान या 'अविच्छिन्न तैलधारा' के समान मन को एकाग्र करके भगवान में लगाये रखना होगा। काम-काज में लगने पर चित्त में विक्षेप आना स्वाभाविक है। इसी कारण पहले के संन्यासीगण कर्म को त्याग देते थे। आध्यात्मिक भाव को नष्ट होने से बचाने के लिये ही स्वामीजी ने कार्य को 'उपासना' या 'सेवा-पूजा' के रूप में करने का निर्देश दिया। यदि पत्थर की मूर्ति में पूजा करके भगवद्दर्शन होता है, तो फिर जीवन्त मनुष्य-रूपी मूर्ति में प्रभु की सेवा कर रहा हूँ, यह भाव लेकर सेवा करने पर भगवत्प्राप्ति क्यों नहीं होगी? भारत की आम जनता में अन्न-वस्त्र तथा शिक्षा के अभाव को देखकर स्वामीजी संन्यासी-संघ को नर-नारायण-सेवा के आदर्श, नवीन भावधारा के अनुसार साधना करने और जनता-जनार्दन की सेवा करने का एक नया मार्ग दिखा गये।

आजकल हम लोग राजनीति के क्षेत्र में भी 'समाजवाद' की बात खूब करते हैं। धर्मभाव के बिना और सभी जीवों के प्रति ईश्वर-बुद्धि लाये बिना सच्चा समाजवाद नहीं लाया जा सकता। सभी मनुष्य स्वार्थपर हैं। उनके मन में सहज-स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है, "दूसरों के लिये कार्य करने से मुझे क्या लाभ होगा?" सभी जीवों के भीतर यदि 'आत्मदर्शन' किया जा सके, तभी सच्चा समाजवाद ला पाना या नि:स्वार्थ सेवा कर पाना सम्भव होगा।

स्वामीजी का यह 'नर-नारायण-सेवा' का भाव गंगाधर महाराज के जीवन में विशेष रूप से रूपायित दीख पड़ता है। अकाल के समय उन्होंने देशसेवा के कार्य में अपना तन-मन झोंक दिया। अनाथ बच्चों के लिये सारगाछी में आश्रम बनाया। शिक्षा-प्रसार के लिये विद्यालय की स्थापना की। उनकी तपस्या के फलस्वरूप अब वहाँ कई बड़े-बड़े विद्यालय स्थापित हो गये हैं। भविष्य में और भी होंगे। ठीक इसी प्रकार मद्रास में पूजनीय शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) के उत्साह के फलस्वरूप एक छोटे-से विद्यालय से आरम्भ करके अब तक वहाँ कितने ही बड़े-बड़े विद्यालय तथा महा-विद्यालय स्थापित हो चुके हैं।

अनेक लोगों का कहना है कि धर्म मनुष्यों के दुख-कष्टों के विषय में उदासीन रहता है। परन्तु यह बात सही नहीं है। धार्मिक व्यक्ति कभी मनुष्यों के दुख-कष्टों के प्रति उदासीन नहीं हो सकता। हृदय जितना उच्च होता है, कष्ट उतने ही अधिक मिलते हैं। मनुष्य के भीतर भगवान को देखने पर उनके प्रति उदासीन नहीं रहा जा सकता। गंगाधर महाराज के जीवन में यह बात विशेष रूप से देखने को मिली थी। एक बार (१९२७ ई. के अप्रैल में) 'प्रबुद्ध भारत' में 'नियो हिन्दुइज्म' (नव-हिन्दुत्व) शीर्षक के साथ एक लेख छपा था। उस लेख में यह श्लोक उद्धृत हुआ था –

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनाम् आर्तिनाशनम् ।।

– न तो मुझे राज्य की कामना है और न स्वर्ग अथवा मुक्ति की। मैं तो केवल दु:खतप्त प्राणियों का दु:ख दूर करने की कामना रखता हूँ।

गंगाधर महाराज को यह श्लोक बड़ा ही अच्छा लगा था, क्योंकि यही भाव उनके अपने भावों के साथ मेल खाता था। बहुत दिनों बाद उन्होंने एक पत्र लिखकर मुझसे इस श्लोक का सन्दर्भ पूछा था। उन दिनों मैं अद्वैत आश्रम का प्रभारी था। इस सन्दर्भ को पाकर वे बड़े खुश हुए थे।

गंगाधर महाराज का स्वभाव बच्चों जैसा था। हम लोग उनके साथ खेल के साथियों के समान मिलते-जुलते थे। महापुरुषगण जब दूसरों के साथ व्यवहार करते हैं, तो वे उनके भीतर अपना भाव जगा देते हैं। शुक और व्यासदेव की कथा से इस बात को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

कहीं पर कुछ युवतियाँ स्नान कर रही थीं। उसी समय युवा शुकदेव नग्नकाय उधर से होकर गुजरे। स्नानरत महिलाएँ उन्हें देखने के लिए जल से निकलकर रास्ते में किनारे खड़ी हो गयीं। उन्हें जरा भी संकोच नहीं हुआ। थोड़ी देर बाद उनके पिता व्यासदेव भी उधर आये। युवतियों ने दूर से ही उन्हें देखकर लज्जित हो वस्त्रादि पहन लिये। निकट पहुँचकर व्यासदेव ने उनसे पूछा, ''मेरे युवा पुत्र को देखकर तुम लोगों को संकोच नहीं हुआ और मुझ वृद्ध को देखकर तुम इतनी लज्जित क्यों हुई?'' तरुणियाँ बोलीं, ''आपके पुत्र में देहभान नहीं है, अत: हमारा भी देहज्ञान विस्मृत हो गया था, पर आपमें देहबोध है, इसीलिये हम इतनी लज्जित हुईं।''

श्रीमाँ सारदादेवी एक बार जब जयरामबाटी से आ रही थीं, तो वे रास्ते में एक डाकू के हाथ पड़ गयीं। माँ ने इतने भावपूर्वक उसे 'बाबा' कहकर पुकारा कि उस डाकू के अन्तर में तुरन्त पितृ-स्नेह उमड़ पड़ा। इसी प्रकार महापुरुष दूसरों के अन्दर अपने भाव का संचार कर दिया करते हैं।

एक बार गंगाधर महाराज उद्बोधन कार्यालय में आये हुए थे। सबने उनसे अनुरोध किया, ''महाराज, हम लोगों को रसगुल्ले खिलाइए न!'' वे बोले, ''मेरे पास पैसे कहाँ हैं? कहाँ से मैं तुम लोगों को रसगुल्ले खिलाऊँ?'' तब उनमें से एक ने उनकी टेंट में रुपया बँधा देखकर उसे छुआ। इस पर उन्होंने उस लड़के को पकड़ लिया और बगल के कमरे में शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) के पास ले जाकर बोले, ''देखो, कैसे लड़कों का निर्माण किया है तुमने। ये मुझसे जबरन रसगुल्ले खाना चाहते हैं।'' उत्तर में शरत् महाराज बोले, ''यदि वे खाना चाहते हैं, तो खिला दो न!'' गंगाधर महाराज ने कहा, ''वाह! देखता हूँ तुम भी इन्हीं की बातों का समर्थन करने लगे।'' असल में वे लड़कों को मिठाइयाँ खिलाने के लिये ही रूपये लाये थे। हम लोगों के साथ नोंक-झोंक करने हेतु ही उन्होंने ऐसा किया था। हम लोगों के ऐसे आचरण से वे खूब आनन्दित हुए थे।

यह दिखाने के लिये कि उनकी स्वामी विवेकानन्दजी के प्रति कितनी श्रद्धा-भक्ति थी, मैं यहाँ दो-एक घटनाओं का उल्लेख करूँगा। उन दिनों मैं अद्वैत आश्रम में रहा करता था। एक बार गंगाधर महाराज कुछ दिनों के लिए कलकत्ते आये और उन पुँटिया की रानी के मकान में ठहरे हुए थे; जिनके पौत्रगण शरत् महाराज के शिष्य थे। एक भक्त अद्वैत आश्रम में दो-एक दिन रहने के लिये आये हुए थे। उन्होंने थोड़े पैसे खर्च करके मध्याह्न-भोजन के समय साधुओं को खिलाने के लिये रसगुल्ले और कच्चे नारियल मँगवाये। हम लोगों का भोजन खत्म होने के पहले ही 'उद्बोधन कार्यालय' के एक संन्यासी आ पहुँचे। उन्हें भी मिठाई और नारियल दिया गया। बाद में उन्होंने जाकर गंगाधर महाराज से कहा, ''महाराज, आज अद्वैत आश्रम में बहुत बड़ा भण्डारा था। रसगुल्लों की भरमार थी और कच्चे नारियलों का तो कहना ही क्या!'' फिर बोले, ''अद्वैत आश्रम में इतना बड़ा भण्डारा हुआ और आप यहीं थे, पर आपको उन लोगों ने निमंत्रण तक नहीं दिया?'' सुनकर वे बालक के समान बोले, ''अच्छा, मैं यही हूँ, और प्रभु (स्वामी वीरेश्वरानन्द) ने मुझे निमंत्रण नहीं भेजा? ठहरो, आने तो दो उसे!'' उक्त संन्यासी ने लौटकर मुझसे कहा, ''मैंने महाराज को तुम्हारे खिलाफ खूब भड़काया है। इस बार जाने पर मजा चखोगे।''

कुछ ही दिनों बाद मैं गंगाधर महाराज से मिलने गया। प्रणाम करने के बाद ज्योंही मैं उनके चरणों में बैठा, पुँटिया रानी के पौत्रगण और वहाँ उपस्थित दो-एक संन्यासी भी उत्सुकतापूर्वक आकर मेरे पास बैठ गये। इनमें वे संन्यासी भी थे, जिन्होंने मेरे विरुद्ध शिकायत की थी।

गंगाधर महाराज मौन धारण किये गम्भीरतापूर्वक बैठे रहे। मैं भी चुपचाप बैठा रहा।

कुछ क्षणों के बाद, अपनी तर्जनी से मेरी ओर इंगित करते हुए वे गम्भीर स्वर में बोले, ''तुम्हारे खिलाफ मुझे भी कुछ कहना है।''

मैंने कहा, ''मुझे भी आपके खिलाफ कुछ कहना है।''

गंगाधर महाराज – ''तुम्हें क्या कहना है मेरे खिलाफ?''

मैं – ''पहले आपको जो कहना है, कह डालिए। आपका चार्जशीट देखने के बाद, मुझे जो कुछ कहना है, कहूँगा।''

इस पर वे बच्चों के समान बोले, ''तो फिर निर्णायक ठीक कर लो।''

मैं – ''आप ही निर्णायक होंगे।''

गंगाधर महाराज – ''मैं स्वयं ही शिकायत करके स्वयं ही निर्णायक होऊँगा?''

मैं – ''आपके अतिरिक्त इनमें से किसी के भी ऊपर मेरा विश्वास नहीं है।''

गंगाधर महाराज – ''ठीक है, तो फिर ऐसा ही होगा।'' इसके बाद वे बोले, ''तुम्हारे यहाँ इतना बड़ा भण्डारा हुआ,

मैं यही हूँ और तुमने मुझे बुलाया तक नहीं।''

मैंने उनको सब कुछ स्पष्ट रूप से बतला दिया कि भण्डारे-जैसी कोई बात नहीं हुई और अन्त में बोला, 'इन संन्यासी ने मेरे विरुद्ध जो कुछ कहा है, उसकी जाँच किये बिना ही आपने मेरे प्रति क्षोभ प्रकट किया है। स्वामीजी ने कहा है कि यदि किसी ने कोई गलती की है, तो उसी को बुलाकर कहना, दूसरों से कुछ न कहना। पर आपने ऐसा नहीं किया।''

मैंने ज्योंही स्वामीजी की बात कही, त्योंही वे बोल पड़े, ''तुमने ठीक ही कहा है। भूल मेरी है।'' ऐसा कहकर वे उन शिकायत करनेवाले संन्यासी की ओर इंगित करते हुए बोले, ''इसी ने सारी गड़बड़ी की है।'' सभी हँसने लगे।

इस घटना में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली, स्वामीजी के प्रति उनका गहरा श्रद्धाभाव और दूसरी, उनके भीतर महापुरुष के लक्षण – मुझ जैसे व्यक्ति के सामने अपनी गलती मान लेना। हम लोग तो ऐसा नहीं कर पाते।

तब मैं बोला, ''महाराज, मैं मुकदमा जीत गया हूँ, अत: आपसे क्षतिपूर्ति लूँगा।''

गंगाधर महाराज – ''ठीक है, क्या चाहते हो बोलो?''

मैं – ''आपको एक दिन अद्वैत आश्रम आना होगा, वहाँ दोपहर का भोजन करके विश्राम करना होगा। फिर शाम को चार बजे चाय पीकर संध्या के पूर्व लौट आना होगा।''

गंगाधर महाराज – ''ठीक है, ऐसा ही होगा।''

बाद में एक दिन वे आये। पर दोपहर में भोजन के बाद ही बोले, ''अब जाऊँगा।'' गरमी के दिन थे। तब आजकल के समान टैक्सियाँ नहीं थीं। वेलिंग्टन लेन से श्यामबाजार तक उन्हें घोड़ागाड़ी में जाना था। धूप में जाते हुए उन्हें कष्ट होगा, यही सोचकर मैं बोला, ''यह तय हुआ था कि आप अपराह्न में चाय पीकर, संध्या के समय लौटेंगे। अत: अभी आपका जाना नहीं होगा।'' गंगाधर महाराज बोले, ''नहीं, नहीं, अभी जाऊँगा।'' तब मैंने उन्हें रोकने के उद्देश्य से कहा, ''यदि आप ठहर जाय, तो आपको एक नयी चीज पिलाऊँगा, ऐसी चीज जो आपने जीवन में कभी न पी होगी।

गंगाधर महाराज – ''ऐसी क्या नयी चीज पिलाओगे तुम मुझे? अरे, मैं कितने ही राजाओं और धनिकों के साथ रहा हूँ, कितने देश घूम चुका हूँ, कितनी ही तरह की चीजें खायी-पीयी हैं। तू कौन-सी नयी चीज मुझे पिलाएगा?''

मैं – ''आप जो भी कहें, परन्तु मैं एक ऐसी चीज आपको दूँगा, जो आपने पहले कभी न पी हो।''

गंगाधर महाराज – ''अच्छी बात है, देखूँ, तुम क्या पिलाते हो मुझे ! तो फिर ठहर ही जाता हूँ।''

मैं आश्वस्त हुआ – जैसे भी हो, इस भयंकर गरमी में उनका जाना तो स्थगित हुआ।

चार बजते ही उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, ''क्यों, कौन-सी नयी चीज पिलाने को कहा था, ले आओ।''

दोपहर में उनके सोने के बाद ही मैंने काफी बनाकर उसे ठण्डा करने के लिए बरफ में रख दिया था। कलकत्ते में उन दिनों न काफी हाऊस थे, न रेफ्रिजिरेटर। मैंने वही ठण्डी काफी गिलास में भरकर उन्हें दी। पीकर वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले, ''सचमुच ऐसी चीज पहले कभी नहीं पी थी।''

एक और घटना है। सारगाछी से कलकत्ते आकर गंगाधर महाराज एक भक्त के घर पर ठहरे हुए थे। उन लोगों ने एक कमरे को खूब यत्न से अच्छी-अच्छी चीजों से सजाकर उनके रहने की व्यवस्था की थी। हम लोग उनसे मिलने वहाँ गये। वे बच्चों की तरह बोले, 'देखो, इन लोगों ने यहाँ मुझे कितने यत्न के साथ रखा है। तुम लोग क्या मठ में मुझे इस प्रकार रख सकोगे?''

मैं बोला, ''इस मकान के साथ मठ की क्या तुलना? यह एक धनी आदमी का मकान है और मठ फकीरों की जगह है। वहाँ पर भला हम लोग आपको इस प्रकार कैसे रख पाएँगे? फिर भी एक बात है – मठ स्वामीजी का घर है, स्वामीजी स्वयं वहाँ निवास करते थे।''

यह कहते ही वे बोल पड़े, ''तुम ठीक कहते हो। सबेरे ही मठ जाऊँगा।'' और उन भक्त को बुलाकर कहा, ''कल सबेरे मठ में जाने की व्यवस्था करो।''

हम सब अवाक् रह गये। वे भक्त बारम्बार उनके और भी दो-एक दिन रह जाने का अनुरोध करने लगे। हम लोगों ने भी उनका समर्थन किया, पर उन्होंने एक न सुनी। दूसरे दिन सबेरे ही वे मठ में चले आये।

बँगला और संस्कृत भाषाओं के प्रति उनका बड़ा प्रेम था। बँगला बोलते समय बीच-बीच में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग उन्हें पसन्द न था। अद्वैत आश्रम का प्रकाशन-विभाग उन दिनों कॉलेज स्ट्रीट मार्केट की दूसरी मंजिल के एक कमरे में स्थित था। एक दिन वे वहाँ आकर बोले, ''चलो, खादी-भण्डार देखने जाएँगे।'' खादी-भण्डार उन दिनों अल्बर्ट-हाल में नीचे की मंजिल के एक कमरे में था। मैं उनके साथ गया। घूम-घामकर उन्होंने सब कुछ देखा। सर पी.सी. राय भी उस समय वही उपस्थित थे। वे उन दिनों काँग्रेस की ओर से खादी का प्रचार कर रहे थे। खादी-संस्थान के कर्मचारियों के साथ बातचीत करते समय वे बीच-बीच में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। गंगाधर महाराज खादी भण्डार की चीजें देखते हुये डॉ. राय की बातें भी सुन रहे थे। थोड़ी देर तक सुनने के बाद वे डॉ. राय से खूब विनयपूर्वक बोले, ''राय साहब, आप अपनी भाषा को भी थोड़ी खद्दर की बना डालिये।''

(शेष अगले पृष्ठ पर)
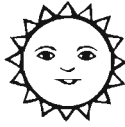
गंगा पतित-पावनी
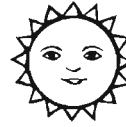
डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

गंगा का नाम भारतीय संस्कृति से इतने अविभाज्य रूप से जुड़ा है कि उसके बिना भारतीय संस्कृति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। गंगा मात्र एक नदी नहीं है, उसने एक मूल्य का रूप ग्रहण कर लिया है – पवित्रता, आध्यात्मिकता और तपस्या का एक मूल्य !

गंगा के इस महत्त्व के अनेक कारण हैं। गंगोत्री से लेकर सुन्दरवन तक का विशाल भूभाग गंगा की गोद में पला है; आर्यों की विशाल संस्कृति का विकास गंगा के आश्रय में ही हुआ है। इसी के तट पर वाजपेय और सोमयागों के बृहत् आयोजन हुए तथा इसी की पवित्र छाया में विराट वैदिक धर्म की संस्थापना हुई। प्राचीन काल से ही गंगा आर्यजाति के जीवन के सभी पक्षों से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रही है कि धीरे-धीरे आर्य संस्कृति में उन्हें देवी का पद प्राप्त हो गया और परवर्ती धार्मिक चेतना का तो वे पर्याय ही बन गयीं। 'गङ्गे, तव दर्शनात् मुक्तिः' – कहकर उनका जयघोष किया गया।

गंगा के अनेक रूप हैं। आधिभौतिक स्तर पर यह इस कृषिप्रधान देश की एक सदानीरा नदी है; आधिदैविक स्तर पर यह पवित्रता और पुण्य की अधिष्ठात्री देवी है; तथा आध्यात्मिक स्तर पर ऊर्ध्वगामी चेतना, ज्ञान और मोक्ष का प्रतीक है।

गंगा का अपना इतिहास भी कम रोचक नहीं है। गंगा का अवतरण ही परोपकार और पापनाश के लिये हुआ है। महाराज भगीरथ ने अपने अभिशप्त पूर्वजों सगर-पुत्रों की मुक्ति के लिये घोर तपस्या की और उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर देवलोक से गंगा इस पृथिवी पर अवतरित हुईं। इस पृथिवी पर उनका प्रवाह सँभालने की क्षमता किसी में नहीं थी, अतः स्वयं देवाधिदेव शंकर अपनी जटाएँ खोलकर खड़े हो गये और गंगा स्वर्ग से उतर कर हिमालय पर विराजमान शंकर की जटाओं में समा गयीं। फिर भगवान शिव के जटाजूट से बाहर आकर वे हिमालय से नीचे उतरीं और भगीरथ के रथ के पीछे-पीछे चलते हुए वहाँ पहुँचीं, जहाँ सगरपुत्रों के अवशेष पड़े हुए थे। अपने प्रवाह में समेट कर गंगा ने उन्हें मुक्ति प्रदान की।

स्वर्ग से उतरने के कारण गंगा को 'सुरनदी', 'विबुधतटिनी', 'सुरसरि' आदि नामों से पुकारा गया। जह्नु ऋषि की दाहिनी जांघ पर से बहने के कारण, उनकी पुत्री-तुल्य हो जाने से उन्हें 'जाह्नवी' कहा गया और भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर धरा पर अवतीर्ण होने के कारण 'भागीरथी'। यही गंगा आठ वसुओं की प्रार्थना पर उन्हें तारने के लिये महाराज शान्तनु की पत्नी बनीं और आठ पुत्रों को जन्म दिया, महा पराक्रमी भीष्म जिनमें से एक थे। भगवान शिव के मस्तक पर सर्वदा विराजमान रहने के कारण गंगा भगवती पार्वती की सपत्नी कहलायीं तथा हिमालय से निकलने के कारण हिमवान् की पुत्री। वाल्मीकि रामायण में भी हिमालय की दो पुत्रियों का वर्णन है – बड़ी गंगा है और छोटी उमा।

अपने मौलिक रूप में गंगा शब्द नदी-सामान्य का ही वाचक था, किन्तु कालान्तर में गंगा की महिमा के कारण यह भागीरथी के अर्थ में ही रूढ़ हो गया। भागीरथी की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह अनेक नदियों का जल अपने में समेट कर आगे बढ़ती है। चाहे यमुना हो या सरस्वती; चाहे मन्दाकिनी हो या अलकनन्दा; चाहे गोमती हो या सरयू – सब अपनी अथाह जलराशि इसे समर्पित कर देती हैं; और यह गंगा इन सबको अपने में समेट कर भारत के एक विशाल भूभाग को ही नहीं, अपितु भारत की मानसिकता को भी सींचती चलती है।

हमारी आध्यात्मिक परम्परा गंगा को ब्रह्मस्वरूपिणी मानती है। गंगा का जल 'ब्रह्मद्रव' कहलाता है, अर्थात् विश्व के कल्याण के लिये ब्रह्म ही मानो द्रवीभूत होकर, सर्वजन-सुलभ होकर पृथिवी पर बह रहा है। गंगा की यह आध्यात्मिक धारणा और उसका यह दैवी स्वरूप इतना प्रबल और इतना गरिमाशाली है कि उसके आगे गंगा का भौतिक सरित्स्वरूप नास्ति-कल्प हो गया है, ओझल हो गया है।

गंगा का यह विराट व्यक्तित्व स्वाभाविक था कि साहित्य

पिछले पृष्ठ का शेषांश

डॉ. राय यह सुनकर नाराज नहीं हुए वरन् खूब विनयपूर्वक बोले, "स्वामीजी, आपने ठीक ही कहा, परन्तु मैं क्या करूँ, लड़कों को अंग्रेजी पढ़ाते-पढ़ाते बीच-बीच में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करने की आदत हो गयी है।"

गंगाधर महाराज हम लोगों के साथ बच्चों की तरह मिला-जुला करते थे, इसीलिये हम लोग उनके साथ खेल के साथियों के समान व्यवहार कर पाते थे। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल में पड़ता है, तो मछलियाँ उस प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के साथ खेलती हैं और सोचती है कि चन्द्रमा भी उन्हीं में से एक है। वे नहीं जानतीं कि चन्द्रमा का वास्तविक स्थान कहाँ है !

❑❑❑

में भी प्रतिबिम्बित होता। इस लेख में हम विशेष रूप से संस्कृत साहित्य में प्राप्त उनके कुछ रमणीय चित्रों पर दृष्टि डालेंगे। संस्कृत कवियों की गंगा के प्रति बड़ी ही आदरपूर्ण दृष्टि रही है और उन्होंने उसे मात्र एक नदी न मानकर दिव्य, ब्रह्म-रूपिणी मातृशक्ति के रूप में स्थापित किया है।

संस्कृत में प्राप्त गंगा की स्तुतियों में पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' अत्यन्त प्रसिद्ध है। गंगा की इस ब्रह्मरूपता का वर्णन करते हुए जगन्नाथ लिखते हैं –

न यत् साक्षाद् वेदैरपि गलितभेदैरवसितं
न यस्मिञ्जीवानां प्रसरति मनोवागवसरः ।
निराकारं नित्यं निज-महिम-निर्वासित-तमो
विशुद्धं यत्तत्त्वं सुरतटिनि तत्त्वं न विषयः ।।

देवि गंगे, अभेद का प्रतिपादन करने वाले वेद भी जिस तत्त्व का साक्षात् रूप से पता नहीं लगा सके; जहाँ जीवों की वाणी तो क्या, मन भी नहीं पहुँचता; जो अपने प्रकाश से संसार के समस्त अज्ञान-अन्धकार का विनाश कर देता है। देवि, तुम वही निराकार विशुद्ध द्रष्टारूप ब्रह्म-तत्त्व हो, इन्द्रियों का विषय कदापि नहीं।

पण्डितराज की श्रद्धा इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होती; वे आत्मविह्वल होकर कहते चले जाते हैं – गंगे, तुम सभी धर्मों की निधि हो, तीर्थों में प्रधान हो, त्रिलोकी का निर्मल परिधान हो, नये-नये आनन्दों का सृजन करने वाली हो। बुद्धि-वादियों के हृदय को भी तृप्त करने वाली हो और अविवेकियों से गुप्त रहने वाली हो। माँ, सुख-सौभाग्य को देने वाला तुम्हारा यह जलमय शरीर हमारे सभी तापों को दूर करे –

निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदां
प्रधानं तीर्थानाममल-परिधानं त्रिजगतः ।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियां
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः ।।

गंगा की देवरूपता की प्रतिष्ठा अत्यन्त प्राचीन है। वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण दोनों में ही गंगा असीम शक्तिसम्पन्न, करुणामयी मातृशक्ति के ही रूप में वर्णित है। वनवास के समय गंगा पार करते समय सीताजी गंगा की अर्चना करते हुए सकुशल लौटने के लिये प्रार्थना करती हैं, जिसका वर्णन अध्यात्म रामायण में इस प्रकार है –

गंगामध्ये गता गंगां प्रार्थयामास जानकी ।
देवि गङ्गे नमस्तुभ्यं निवृत्त वनवसिता ।।
रामेण सहिताहं त्वां लक्ष्मणेन च पूजये ।
इत्युक्त्वा परकूलं तौ शनैरुत्तीर्य जग्मतुः ।।

रामकथा पर ही आधारित मुरारि कवि के 'अनर्घ-राघवम्' नामक नाटक में भी गंगा की बड़ी कल्पनापूर्ण स्तुति की गई है। सप्तम अंक में श्रीराम सीताजी को भगवती भागीरथी को प्रणाम करने का निर्देश करते हुए कहते हैं –

देवस्याम्बुज-सम्भवस्य भवनादम्भोधिमागामुका,
सेयं मौलिविभूषणं भगवतो भर्गस्य भागीरथी ।
उद्यातानपहाय विग्रहमिह स्रोतःप्रतीपानपि,
स्रोतस्तीव्रतरा गमयति द्राग्ब्रह्मलोकं जनान् ।।

कमलयोनि ब्रह्मा के स्थान से सागर की ओर आती हुई, भगवान शिव के मस्तक की शोभा ये वही भागीरथी हैं, जो अपने समीप शरीर छोड़ने वाले ऊर्ध्वगामी प्राणियों को, प्रवाह के विपरीत गति धारण करने पर भी अपने त्वरित् प्रवाह के कारण शीघ्रता से ब्रह्मलोक पहुँचा देती हैं।

इस श्लोक की व्यंजना बड़ी ही चमत्कारपूर्ण है। सामान्यतः कोई अपने विपरीत आचरण करने वाले व्यक्ति के प्रति सदय नहीं होता। यह गंगा की ही उदारता है कि उनका प्रवाह अधोगामी है और उनके समीप प्राणत्याग कर मुक्तिलाभ करने वाले प्राणियों की गति ऊर्ध्वगामी है, तो भी गंगा उन्हें उनके गन्तव्य तक पहुँचा देती है।

इस महिमामय रूप के अतिरिक्त गंगा का एक नायिका रूप भी है, जिसे आधार बना कर कवियों ने अनेक ललित कल्पनाएँ की हैं। भगवती गंगा सदैव भगवान शिव के मस्तक पर विराजमान रहती हैं। वे शंकर को इतनी प्रिय हैं कि वे पार्वतीजी की इच्छा के विरुद्ध भी उन्हें सदैव साथ रखते हैं। संस्कृत के भावप्रवण और कल्पनाशील कवियों ने प्रायः गंगा का चित्रण पार्वती की सपत्नी के रूप में किया है। शिव के बाएँ अंग में पार्वती और दाएँ अंग में गंगा निवास करती हैं। दोनों ही स्त्रियाँ परस्पर एक-दूसरे से क्षुब्ध रहा करती हैं। 'अनर्घ-राघवम्' में ही मुरारि ने लिखा है – भगवान शंकर के मस्तक का संकीर्ण प्रदेश जिनके साथ गौरी ने आधा बाँट लिया है, उन 'दुगुनी गम्भीर' भागीरथी को प्रणाम है –

गौरी-विभज्यमानार्ध-संकीर्ण-हर-मूर्द्धनि,
अम्ब, द्विगुण-गम्भीरे भागीरथि नमोऽस्तुते ।

सामान्यतः जहाँ किसी नदी का पाट सँकरा होता है वहाँ वह दुगुनी गम्भीर हो जाती है, किन्तु यहाँ व्यंजना है कि चूँकि पार्वती ने शिव के आधे अंग पर अधिकार कर रखा है, अतः दुःख और क्षोभ से गंगा और भी गम्भीर हो उठी हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसी आशय का एक अत्यन्त भावपूर्ण और गम्भीर श्लोक लिखा है, जिसका आशय है कि हे माँ, अलौकिक प्रेम के कारण भवानी का आधा अंग जिनसे जुड़ा है, उन्हीं अर्द्धनारीश्वर शंकर के दाहिनी ओर स्थित जटाजूट से उछलकर, उनके बाईं ओर स्थित पार्वती के सुसज्जित सीमन्त में जब तुम्हारी लहरें उल्लासपूर्वक क्रीड़ा करती हैं, तो शिव की अर्द्धांगिनी के नेत्र ईर्ष्याजनित क्रोध से फड़क उठते हैं और वे सुकोमल कान्ति वाले अपने हाथों से तुम्हारी लहरों को दूर हटा

देती है। माँ, तुम्हारी उन चंचल लहरों की जय हो।

कपर्दादुल्लस्य प्रणयमिलदर्धांगयुवतेः
पुरारेः प्रेंखन्त्यो मृदुलतरसीमन्तसरणौ ।
भवान्या सापत्यस्फुरितनयनं कोमलरुचा,
करेणोत्क्षिप्तास्ते जननि विजयन्तां लहरयः ।।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में हिमालय की ज्येष्ठ पुत्री गंगा और कनिष्ठ पुत्री पार्वती की पारस्परिक ईर्ष्या की बड़ी रसपूर्ण चर्चा है।

जिस प्रकार पार्वती के साथ भागीरथी का सम्बन्ध है, उसी प्रकार एक अन्य के साथ भी उनका सम्बन्ध विश्वविख्यात है – और वे हैं सूर्यतनया यमुना। श्यामवर्णा सूर्यपुत्री यमुना प्रयाग में गंगा से गले मिलती हैं; और यह संगम सभी नदियों के संगम से कहीं अधिक पवित्र तथा पुण्यप्रद माना गया है। इसी संगम के कारण प्रयाग को तीर्थराज की उपाधि मिली और इसी संगम के तट पर ब्रह्मा के द्वारा सौ यज्ञ किये जाने के कारण इस संगम क्षेत्र का नाम प्रयाग पड़ा।

संस्कृत साहित्य में इस संगम का सर्वाधिक सुन्दर वर्णन महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंशम्' में किया है। यह गंगा के भौतिक रूप का अत्यन्त रमणीय चित्र है। भगवान राम रावण का वध करके पुष्पक विमान से अयोध्या लौट रहे हैं। मार्ग में सीताजी को संगम दिखलाते हुए वे कहते हैं कि हे सुन्दरांगि, देखो, यमुना की तरंगों से मिश्रित यह गंगा का प्रवाह कितना सुशोभित हो रहा है। कहीं गंगा की धारा ऐसी लगती है, जैसे कान्ति से दमकती हुई इन्द्रनील मणियों से युक्त मोतियों का हार हो, या बीच-बीच में जिसमें नीलकमल गूँथे गये हों, ऐसी सफेद कमलों की माला हो। कहीं ऐसा लगता है जैसे नीलहंसों से युक्त मानसरोवर के प्रेमी राजहंसों का समूह हो, तो कहीं जैसे बीच-बीच में कालागरु की चित्रकारी से युक्त पृथिवी के शरीर पर चन्दन से किया गया अनुलेपन हो।

गंगा की धवलधार और यमुना की नीलिमा का इतना ही वर्णन करके कालिदास का सौन्दर्य प्रेमी हृदय तृप्त नहीं होता। उनकी कल्पना कोमल से कोमलतर होती चली जाती है – ''यमुना की नीलघटा से ओतप्रोत गंगा की धवलिमा ऐसी लगती है, जैसे छाया में छिपे अन्धकार से चित्र-विचित्र हुई चन्द्रमा की चाँदनी हो, या जिनमें बीच-बीच से नीला आकाश झाँक रहा है, ऐसे शरद ऋतु के शुभ्र बादलों का समूह हो। अन्त में शिवप्रिया गंगा के आधार भगवान शिव का स्मरण करते हुए कालिदास कहते हैं कि 'यमुना की तरंगों से आलिंगित गंगा का प्रवाह, जिस पर कृष्ण सर्प लिपटे हों, ऐसे भगवान शंकर की भस्माभिषिक्त देह की भाँति प्रतीत होता है' –

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभप्रदेशाः ।
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणैव भस्मांगरागा तनुरीश्वररस्य,
पश्यानवद्यांगि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरंगैः ।।

गंगा के व्यक्तित्व की चर्चा अपूर्ण रहेगी यदि सरस्वती का उल्लेख नहीं होगा। प्रयाग में यमुना के अतिरिक्त सरस्वती नदी का भी गंगा से संगम होता है। सरस्वती भारतवर्ष की प्राचीन और अत्यन्त महिमामयी नदियों में से है। ऋग्वेद में इसकी चर्चा बड़े आदरपूर्वक की गई है तथा इसे आरोग्यकारिणी और पापों को नष्ट करने वाली कहा गया है। गंगा की भाँति यह भी देश के एक बड़े भूभाग को सींचती थी, अतः इसे सस्य-प्रदायिनी और उर्वरा-शक्ति देने वाली भी कहा गया है। प्रयाग में गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम 'त्रिवेणी' के नाम से विख्यात है। इस संगम में सरस्वती लुप्त हो जाती है और गंगा की धवलिमा तथा यमुना की नीलिमा ही दृष्टिगोचर होती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के संगम की भाँति गंगा, यमुना और सरस्वती का यह संगम विशेष वन्दनीय है।

वस्तुतः गंगा का व्यक्तित्व इतना विराट है कि यहाँ उसके सभी रूपों का आकलन सम्भव नहीं है। गंगा केवल इस देश की नदी नहीं है; वह निर्मात्री है इस देश की संस्कृति की, साक्षी है इसके इतिहास की। गंगा नाम है एक आस्था का, एक भावना का, एक जीवनमूल्य का। युगों-युगों से गंगा इस देश के जनमानस में इस तरह से रच-बस गई है कि उसके धर्म, उसके मनोविज्ञान, उसके साहित्य और उसकी कला का अविभाज्य अंग बन चुकी है, इस सीमा तक कि भारत को गंगा के बिना समझा ही नहीं जा सकता।

❑❑❑

परम पुरुषार्थ है – मोक्ष

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

धर्मग्रन्थों में मोक्ष की बात कही गयी है। मोक्ष को जीवन के परम प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दू धर्म में चार पुरुषार्थ माने गये हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इस प्रकार मोक्ष को चार पुरुषार्थों में प्रमुख तथा अन्य तीन पुरुषार्थों द्वारा प्राप्तव्य लक्ष्य के रूप में माना गया है।

वैसे मोक्ष का सरल अर्थ होता है मुक्ति। पर प्रश्न उठता है कि किससे मुक्ति? हमें किसने बाँध रखा है, जिससे हम मुक्ति चाहते हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि हमें हमारी इन्द्रियों ने, हमारे मन ने बाँध रखा है। हम इन्द्रियों के गुलाम बन गये हैं। मन हमें जिधर चाहता है, नचाता रहता है। देह और मन की गुलामी को ही बन्धन माना गया है। इस बन्धन का हटना ही मोक्ष कहलाता है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य देह और मन का गुलाम क्यों हो गया है? इसलिए कि वह अपनी आत्म-स्वरूपता को भूल गया है। उसने यह तथ्य विस्मृत कर दिया है कि वह आत्मा है। अपनी आत्म-स्वरूपता को जगाने के लिए मनुष्य को विचार करना पड़ता है कि मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ। देह सतत परिवर्तित हो रही है। वह चेतन नहीं हो सकता, वह मात्र जड़ है। चेतन वह है, जो इस परिवर्तन का अनुभव करता है। देह और मन सतत परिवर्तनशील होने के कारण जड़ हैं। मनुष्य के भीतर का जो चेतन तत्त्व देह और मन के परिवर्तनों का अनुभव करता है, उसी को आत्मा कहते हैं। मनुष्य जब एवंविध विवेक-विचार के द्वारा अपने को देह मन से भिन्न आत्मतत्त्व के रूप में अनुभव करता है, उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

शास्त्रों में कहा गया है – "**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः**" – अर्थात् मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। संसार की आसक्ति में पड़ा हुआ मन बन्धन का कारण है, पर संसार के भोगों से अनासक्त हुआ मन मोक्ष का कारण बन जाता है।

प्रश्न उठता है कि मन को अनासक्त कैसे बनावें? हम पहले कह चुके हैं कि धर्म और मोक्ष के समान ही अर्थ और काम को भी पुरुषार्थ माना गया है। हमने अर्थ और काम को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा है, उनकी अवहेलना नहीं की है, अपितु उनकी शक्ति को, महत्त्व को स्वीकार किया है। 'अर्थ' का तात्पर्य है – सत्ता; और 'काम' सृष्टि का बीज है। मनुष्य में अर्थ और काम की वृत्तियाँ रूढ़ हैं। ये मनुष्य को दलदल में भी फँसा सकती हैं और मुक्त गगन में भी उड़ा सकती हैं। जब मनुष्य केवल देह के धरातल पर ही अर्थ और काम का उपभोग करता है, तो मानो वह संसार-कीच में फँस जाता है, पर जब धर्म के द्वारा उन दोनों का नियंत्रण करते हुए उन दोनों का उपभोग करता है, तो मोक्ष के उन्मुक्त गगन की ओर उड़ चलता है। अर्थ और काम का प्रवाह उद्दाम है। यदि प्रवाह पर रोक न लगे, तो वह अनियंत्रित रूप से फैलकर, प्लावन का रूप धारण कर कितने ही गाँवों को डुबाकर नष्ट कर देता है। पर जब उसी नदी पर बाँध बाँधा जाता है, तो वही जल नियत्रंण में आकर लोगों के अशेष कल्याण का हेतु बन जाता है।

इसी प्रकार यदि अर्थ और काम की वृत्तियाँ अनियंत्रित हों, तो वे मनुष्य का नाश कर देती हैं, पर जब धर्म के द्वारा उन दोनों को अंकुश में रखा जाता है, तो वे ही मनुष्य को मोक्ष की ओर बहा ले चलती हैं।

स्वामी विवेकानन्द मोक्ष को निःस्वार्थता के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में वही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है, जो पूरी तरह से निःस्वार्थ है। व्यक्ति में तनिक-सा भी स्वार्थ के रहते वह मोक्ष से दूर है।

वे निःस्वार्थता को ही धर्म की कसौटी मानते हैं। जिसमें निःस्वार्थता जितनी अधिक है, वह उतनी ही मात्रा में धार्मिक है। और वह उतना ही अधिक मोक्ष के रास्ते पर जायेगा। मोक्ष का फल मनुष्य को इसी जीवन में अनुपम आनन्द के रूप में प्राप्त होता है। देह, इन्द्रिय और मन की दासता से मुक्त हो उन्हीं को अपना दास बना लेना और अपनी इच्छा के अनुसार उनका परिचालन करना – यही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ फल है। ❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कथा-कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

१६. तुम भेड़ नहीं, सिंह हो

एक सिंहनी का प्रसव-काल निकट था । एक बार वह अपने शिकार की खोज में बाहर निकली। उसने दूर से भेड़ों के एक झुण्ड को चरते देखा। उसने उन पर आक्रमण करने के लिए ज्योंही छलाँग लगायी, त्योंही उसके प्राणपखेरू उड़ गये और उससे एक मातृहीन सिंह-शावक ने जन्म लिया। भेड़ें उस सिंह-शावक की देखभाल करने लगीं और वह भेड़ों के बच्चों के साथ-साथ बड़ा होने लगा, उन्हीं की भाँति घास -पात खाकर रहने लगा और उन्हीं की भाँति 'में-में' करना सीख गया। कुछ समय बाद यद्यपि वह एक पूर्ण विकसित शक्तिशाली सिंह हो गया, तो भी वह अपने को भेड़ ही समझता था। इसी प्रकार दिन बीतते गये कि एक दिन एक बड़ा भारी सिंह शिकार के लिए उधर आ निकला। उसे यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि भेड़ों के बीच एक सिंह भी है और वह भेड़ों की ही भाँति डरकर भागा जा रहा है। तब सिंह उसे यह समझाने के लिए उसकी ओर आगे बढ़ा कि तू सिंह है, भेड़ नहीं। पर ज्योंही वह आगे बढ़ा, त्योंही भेड़ों का झुण्ड और उसके साथ-साथ वह 'भेड़-सिंह' भी भागने लगा।

खैर, उसने उस भेड़-सिंह को उसके अपने यथार्थ स्वरूप को समझा देने का संकल्प नहीं छोड़ा। वह देखने लगा कि वह भेड़-सिंह कहाँ रहता है, क्या करता है। एक दिन उसने देखा कि वह एक जगह पड़ा सो रहा है। देखते ही वह छलाँग मारकर उसके पास जा पहुँचा और बोला, ''अरे, तू भेड़ों के साथ रहकर अपना स्वभाव कैसे भूल गया? तू भेड़ नहीं है, तू तो सिंह है।'' भेड़-सिंह बोल उठा, ''क्या कह रहे हो? मैं तो भेड़ हूँ, सिंह कैसे हो सकता हूँ?'' उसे किसी प्रकार विश्वास नहीं हुआ कि वह सिंह है, और वह भेड़ों की भाँति मिमियाने लगा। तब सिंह उसे उठाकर एक सरोवर के किनारे ले गया और बोला, ''यह देख, अपना प्रतिबिम्ब, और यह देख, मेरा प्रतिबिम्ब।'' तब वह भेड़-सिंह उन दोनों प्रतिबिम्बों की तुलना करने लगा। वह एक बार सिंह की ओर और फिर अपने प्रतिबिम्ब की ओर ध्यान से देखने लगा। शीघ्र ही उसकी समझ में आ गया कि 'सचमुच, मैं तो सिंह ही हूँ।' तब वह सिंह गर्जना करने लगा और उसका भेड़ों जैसा मिमियाना न जाने कहाँ चला गया !

इसी प्रकार तुम सब सिंह हो – तुम आत्मा हो, शुद्ध, अनन्त और पूर्ण हो। विश्व की महाशक्ति तुम्हारे भीतर है। 'हे सखे, तुम क्यों रोते हो? जन्म-मरण तुम्हारा भी नहीं है और मेरा भी नहीं। क्यों रोते हो? तुम्हें रोग-शोक कुछ भी नहीं है, तुम तो अनन्त आकाश के समान हो; उस पर नाना प्रकार के मेघ आते हैं और कुछ देर खेलकर न जाने कहाँ लुप्त हो जाते हैं; पर वह आकाश जैसा पहले नीला था, वैसा ही नीला रह जाता है।' इसी प्रकार के ज्ञान का अभ्यास करना होगा। (२/१८-१९)

१७. मछुवारिनों को फूलों का गन्ध सहन नहीं हुआ

कहीं तुम लोगों की हालत उन मछुवारिनों जैसी न हो जाय, जो बाजार से घर लौटते समय आँधी-वर्षा में फँस गयी थीं, इसलिये उन्होंने एक मालिन सखी के घर आश्रय लिया था। रात के समय उन्हें सोने के लिये फुलवारी के पास का कमरा दिया गया। वहाँ का वातावरण फूलों की महक से परिपूर्ण था। उन्होंने सोने की चेष्टा की, पर फूलों की सुगन्ध के कारण उन्हें नींद नहीं आ रही थी। आखिरकार उनमें से एक ने सलाह दी – क्यों न हम अपनी मछलियों वाली टोकरियों पर पानी छिड़क कर उन्हें अपने सिरों के पास रखकर देखें ! उन्होंने ऐसा ही किया। मछलियों की गन्ध उनकी नाक में आने लगी और तब वे मजे से गहरी निद्रा में निमग्न हो गयीं। यह संसार हमारे लिए मछली की टोकरी जैसी है। हमें अपने सुख के लिए इस पर निर्भरता छोड़नी होगी। जो लोग संसार पर निर्भर हैं, वे तामस-स्वभाव या बद्ध जीव हैं। उनके बाद राजस-स्वभाव या अहंकारी जीव हैं, जो सदा 'मैं-मैं' करते रहते हैं। यदा-कदा वे अच्छा काम करते हैं और आध्यात्मिक प्रगति भी कर सकते हैं। परन्तु सात्त्विक स्वभाव के लोग ही सर्वश्रेष्ठ हैं, जो सदा अन्तर्मुख रहते हैं और आत्मा में ही रमण करते हैं। ये तीनों गुण तमो (निष्क्रियता), रजो (क्रियाशीलता) तथा सत्त्व (ज्ञान) प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान हैं; और जीवन में विभिन्न समयों पर विभिन्न गुणों का प्राबल्य दीख पड़ता है। (७/१८-१९)

१८. भगवान बुद्ध और एक चरवाहा

तुम पश्चिमी दुनिया के लोग क्रियाशीलता चाहते हो। तुम लोग अब भी जीवन की सहज-सामान्य लघु घटनाओं में निहित काव्य को देख नहीं पाते ! अपने मृत शिशु को लेकर बुद्ध के पास आनेवाली उस युवती माँ की कहानी से बढ़कर और क्या सौन्दर्य हो सकता है? या फिर वह बकरियों वाली घटना ! तुम देख सकते हो कि 'महान् त्याग' भारत के लिए नया नहीं था !... जरा इसके कवित्व को तो देखो !

वर्षा की रात है। वे एक चरवाहे की झोपड़ी तक आते हैं और टपकते हुए छज्जे के नीचे दीवार से सटकर बैठ जाते हैं। मूसलाधार पानी बरस रहा है और सनसनाती हुई हवा चल रही है।

भीतर बैठे चरवाहे की दृष्टि खिड़की से होकर एक चेहरे पर पड़ती है और वह सोचता है, "अहा-हा ! गैरिक वस्त्रवाले ! वहीं पड़े रहो ! तुम्हारे लिए वही काफी है !" और इसके बाद वह गाने लगता है –

"मेरे पशु घर के भीतर हैं, अँगीठी तेज लपटों के साथ जल रही है, मेरी पत्नी सुरक्षित है, बच्चे मीठी नींद में सो रहे हैं ! अत: हे बादलो, यदि तुम चाहो, तो आज रात बरस सकते हो।"

तब बुद्ध बाहर से उत्तर देते हैं, "मेरा मन संयमित है। मैंने सारी इन्द्रियों को समेट लिया है। मेरा हृदय सुदृढ़ है। अत: हे बादलो, यदि तुम चाहो, तो आज रात बरस सकते हो।"

चरवाहे ने फिर गाया, "मेरे खेत कट गये हैं और चारा खलिहान में सुरक्षित रखा है। तालाब में पानी भरा है और रास्ते मजबूत हैं। अत: हे बादलो, यदि तुम चाहो, तो आज रात बरस सकते हो।"

इसी प्रकार संवाद का क्रम चलता रहता है और अन्त में चरवाहा पश्चाताप और आश्चर्य से अभिभूत होकर उठ खड़ा होता है और (भगवान बुद्ध का) शिष्य बन जाता है।

१९. भगवान बुद्ध की उदारता

या फिर नाई की उस कथा से अधिक सुन्दर और क्या हो सकता है?

भगवान बुद्ध मेरे घर के पास से होकर निकले, मेरा घर – एक नाई का !

मैं उनके पीछे भागा, पर वे मुड़े और मेरी प्रतीक्षा की। मेरी प्रतीक्षा की – एक नाई की !

मैंने कहा, "प्रभो, क्या आप मुझसे बातें कर सकते हैं?"

उन्होंने कहा, "हाँ-'हाँ !" मुझसे – एक नाई से !

मैंने पूछा, "क्या निर्वाण मुझ जैसों के लिए है?'

वे बोले, "हाँ !" मेरे लिए – एक नाई के लिए भी है !

मैंने पूछा, "क्या मैं आपका अनुगमन कर सकता हूँ?"

उन्होंने कहा, "हाँ !" मैं भी – एक नाई भी !

मुझसे – नाई से भी!

मैंने कहा, "प्रभो, क्या मैं आपके साथ रह सकता हूँ?"

वे बोले, "रह सकते हो।" मैं भी – एक गरीब नाई भी !" (८/१३७-३८)

२०. यह संसार न भला है और न बुरा

यह संसार एक विशाल व्यायामशाला है, जिसमें हम लोगों के समान ही करोड़ों जीव आकर व्यायाम करते हैं और बलवान तथा पूर्ण होकर बाहर निकलते हैं। यही इस संसार का उद्देश्य है। ऐसी बात नहीं कि ईश्वर इससे बेहतर या दु:खरहित विश्व का निर्माण नहीं कर सकता था।

तुम उस युवती और पादरी की कहानी जानते होगे। वे दोनों एक दूरबीन के माध्यम से चन्द्रमा का निरीक्षण कर रहे थे। उन्हें चन्द्रमा पर काले धब्बे दिखाई पड़े।

पादरी ने कहा, "मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वे किसी गिरजाघर के शिखर हैं।"

युवती बोली, "बकवास ! वे अवश्य ही दो तरुण प्रेमी हैं, जो एक-दूसरे को चूम रहे हैं।"

इस संसार में भी हम लोग कुछ ऐसा ही कर रहे हैं। जब हम भीतर रहते हैं, तो सोचते हैं कि हम भीतर देख रहे हैं। वस्तुत: हम अपनी चेतना के स्तर के अनुसार ही इस विश्व-ब्रह्माण्ड को देखते हैं। रसोईघर की आग – न तो बुरी है और न अच्छी। जब यह तुम्हारे लिये भोजन पकाती है, तो तुम उसकी प्रशंसा करते हो और कहते हो, "यह कितनी अच्छी चीज है।" पर जब इससे तुम्हारी अंगुली जल जाती है, तो तुम चिल्ला उठते हो, "यह कैसी बेकार की चीज है !" इसी तरह यह कहना भी उतना ही उचित और तर्क-संगत है कि यह विश्व न तो बुरा है, न अच्छा। संसार तो संसार है और यह हमेशा संसार ही रहेगा। (२/२६७)

२१. सहनशीलता ही नहीं, अनासक्ति चाहिये

न कुछ पाने की चेष्टा करो और न कुछ छोड़ने की। जो भी मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहो। किसी भी हालत में विचलित न होना ही मुक्ति है। केवल सहन करने से काम नहीं चलेगा, पूर्णत: अनासक्त बनो। उस साँड़ की कहानी याद रखो। एक मच्छर बड़ी देर से एक साँड़ के सींग पर बैठा था। इसके बाद उसके मन में ग्लानि होने लगी। वह क्षमायाचना के स्वर में बोला, "साँड़जी, मैं बड़ी देर से आपके सींग पर बैठा हूँ। मुझे बड़ा खेद है कि इससे आपको बड़ी असुविधा हो रही होगी। अब मैं चलता हूँ।" साँड़ ने उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, मुझे जरा भी असुविधा नहीं हुई ! तुम अपने पूरे परिवार को साथ लेकर मेरे सींग पर निवास करो। इससे मुझे कोई फरक नहीं पड़ता।" (७/२१)

❖ (क्रमशः) ❖

विभिन्न रूपों में श्रीमाँ

आशुतोष मित्र

१९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित लेखक के 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के प्रथम तीन अध्याय हम २००६ के अंकों में प्रकाशित कर चुके हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' के खण्ड २ से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(१६) दक्षिणेश्वर के छोटे से नौबतेखाने में आबद्ध रहने से माँ के एक पैर में बातरोग की शुरुआत हुई। परवर्ती काल में अर्थात् जब हम लोगों ने उन्हें देखा, तब तक बात इतना बढ़ गया था कि उन्हें उस पैर को घसीटकर चलना पड़ता था। कई तरह की अंग्रेजी तथा वैद्यकीय दवाओं और मालिश आदि से भी वह ठीक नहीं हुआ। कुछ दिन थोड़ा कम होकर पुन: बढ़ जाता। एक बार वह काफी बढ़ गया और उन्हें विशेष कष्ट होता देखकर किसी शिष्य ने उनसे कहा, "माँ, आप अनुमति दीजिए, जिससे आपके शरीर का यह रोग मैं अपने शरीर में खींच लूँ।" इतना कहकर वे ऐसा करने को उद्यत हुए। माँ जानती थीं कि उस शिष्य ने नेपाली माई से वह विद्या सीखी है और ऐसा कर भी सकता है, अत: उसे अवसर न देते हुए अत्यन्त विचलित होकर उनके दोनों हाथ पकड़कर बोली, "नहीं, नहीं, बेटा, ऐसा मत करो। तुम नहीं जानते – यह इस (मेरे) शरीर में जितना कष्ट दे रहा है, तुम्हारे शरीर में जाकर मुझे और अधिक कष्ट देगा – मैं माँ हूँ न!" महाशक्ति के सामने क्षुद्र शक्ति की पराजय हुई।

(१७) कई बार हम लोगों ने देखा है कि माँ अपने त्यागी-शिष्यों की अपेक्षा गृही-शिष्यों को अधिक स्नेह देतीं। इस पक्षपात का कारण पूछने पर उन्होंने बताया, "ये (त्यागी) लोग सब छोड़-छाड़कर ध्यान-जप लेकर हैं – अपनी चेष्टा से ही उठ जायँगे और ये (गृही) लोग छोटे बच्चों के समान मुझी पर आश्रित हैं, इसलिये उन्हें मुझे ही देखना पड़ेगा।"

(१८) एक बार माँ के नये मकान के पास चितपुर रोड पर शीतला देवी की सार्वजनिक पूजा हुई। उस दिन माँ गंगा-स्नान के बाद नारियल, चीनी तथा दक्षिणा के पैसे मेरे हाथ में देकर बोलीं, "ये सब पूजा में चढ़ा देना और मन-ही-मन माँ-शीतला से कहना, "इसका फल ले लो और उसके फल का फल भी ले लो।"

(१९) दुर्भाग्यवश माँ के एक शिष्य[१] को सदा के लिए संघ छोड़ना पड़ा। विदा के समय वे भी रो रही थीं और शिष्य भी रो रहा था। इसी प्रकार थोड़ा समय बीतने के बाद किसी के आ जाने की सम्भावना जानकर माँ ने अपने आँचल से आँखें पोछने के बाद शिष्य को स्नानगृह में जाकर आँखें धो आने को कहा। वे बोलीं, "जाओ बेटा, जहाँ कह रही हूँ, वहीं जाकर रहना। जान रखना, मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। इस (शरीर) के जाने के बाद भी। हँस-खेल लो। भय की कोई बात नहीं।" शिष्य जब जाने लगा, तो माँ खिड़की के पास खड़ी होकर जहाँ तक दिखता रहा, उसे देखती रहीं। शिष्य ने बाद में सुना था कि उस दिन माँ खाना नहीं खा सकीं और सारे दिन रोयी थीं।

(२०) माँ के शरीर में चेचक के फफोले पक जाने पर सेवक बेल के काँटे से उनमें छिद्र करके बोरिक पाउडर लगी रूई से मवाद को पोंछने लगा। इसे देखकर डॉक्टर कांजीलाल ने शरत् महाराज से अनुमति लेकर सेवक को टीका लगवाने को कहा। वह मना करते हुए बोला, "माँ की सेवा में टीका आदि की कोई जरूरत नहीं।" लेकिन डॉक्टर उनकी बात न सुनकर बारम्बार कहने लगे। स्थिति प्रतिकूल देखकर सेवक भाग निकला। डॉक्टर उनके पीछे-पीछे दौड़े। वह दौड़ते-दौड़ते गिरीशचन्द्र के घर के मुख्य द्वार से घुसकर पिछले द्वार से निकल गया। उस समय गिरीशचन्द्र ऊपर बैठे थे – सेवक को नहीं देख सके – लेकिन डॉक्टर को दौड़ते देखकर उन्हें अपने पास बुलाया और सारी बात सुनकर बोले, "तुम उसे पकड़ सकोगे? वह तो पिछले दरवाजे से निकलकर अब तक न जाने कहाँ पहुँच गया होगा।" डॉक्टर ने लौटकर माँ से शिकायत किया। माँ हँसते हुए बोलीं, "वह बड़ा जिद्दी है, मैंने भी उसे नहीं देखा।"

(२१) माँ के एक शिष्य मठ में गंगास्नान करते समय प्रचण्ड ज्वार में पड़कर गोते खाने लगे। बड़ी मेहनत के बाद साधु लोगों ने उन्हें बाहर निकाला। सौभाग्यवश डॉक्टर कांजीलाल उस समय मठ में ही थे। उन्होंने कृत्रिम उपाय से उनके पेट से पानी निकाला और समुचित सेवा करके उनकी प्राणरक्षा की। उन दिनों माँ जयरामबाटी में थीं। ललित[२] के

१. विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ कि ये लेखक (आशुतोष मित्र) स्वयं थे।

२. 'कैसर' नाम से सुपरिचित माँ के शिष्य ललित मोहन चट्टोपाध्याय

पत्र से इस घटना के बारे में जानकर माँ ने लिखा, "बेटा, मैं तो सोचकर बेचैन हूँ। ठाकुर को तुलसी दिया है। उससे कहना, स्वस्थ होकर वह यहाँ आये।"

(२२) एक भक्त ने एक पुस्तक लिखना आरम्भ किया, पर केवल एक परिच्छेद लिखने के बाद व्यस्तता के कारण उसे स्थगित रखा। उन्होंने सोचा था कि जयरामबाटी जाकर उसे निश्चिन्त भाव से समाप्त करेंगे। वहाँ एक दिन उनकी अनुपस्थिति में एक महिला भक्त कमरा साफ करने आयीं और उन्होंने उस लेख को ले जाकर माँ को सुनाया। भोजन के समय माँ ने भक्त से कहा, "तुम तो अच्छा लिखते हो, पुस्तक पूरी करो।" आशीर्वाद पाकर भक्त आनन्दित हुए और उन्होंने यथाशीघ्र उसे लिखकर पूरा किया।

(२३) किसी-किसी सेविका[३] के बारे में माँ को कहते सुना है, "ये लोग क्या कम हैं जी ! मुझे ही इनसे लिहाज करके चलना पड़ता है।"

(२४) माँ जहाँ कहीं भी जातीं, उनके साथ एक छोटी-सी डिबिया रहती, जिसमें सिंहवाहिनी की मिट्टी रखी रहती। वे नित्य-पूजा के बाद उसमें से थोड़ा-थोड़ा-सा खाती थीं।

(२५) माँ बड़े भोर में ही उठ जाती थीं। वे कपड़े धोने के बाद माला लेकर बैठतीं। आठ-नौ बजे ठाकुरपूजा करतीं। पूजा के बाद मिश्री का शरबत पीतीं। दोपहर में भोजन के बाद थोड़ा-सा आराम करतीं। अपराह्न में चार बजे पुन: कपड़े धोने के बाद माला लेकर बैठतीं और रात के भोजन तक जप करतीं। बीच में संध्या हो जाने पर संध्या का भोग देतीं।

(२६) लेखक तब कलकत्ते में था – जयरामबाटी से प्राप्त माँ के एक पत्र से उसे ज्ञात हुआ कि तीन युवक उनसे दीक्षा और संन्यास लेकर वहाँ से पैदल ही काशी के लिये रवाना हो गये हैं। वे लोग मठ में बिल्कुल नहीं आये – सीधे माँ के पास गये – निश्चय ही वे बाद में मठ में प्रविष्ट हुए थे। उनमें से एक व्यक्ति लेखक से बड़ा स्नेह करते थे। उनका नाम था खगेन अर्थात् स्वामी शान्तानन्द।[४]

(२७) स्वामीजी की व्यवस्था के अनुसार माँ की गृहस्थी चलाने के लिए मठ से हर महीने पचीस रुपये आते थे। योगीन महाराज की व्यवस्था से गिरीशचन्द्र तथा कुछ अन्य लोग भी हर माह थोड़ा-थोड़ा योगदान करते थे। बाद में शरत् महाराज की व्यवस्था से श्रीमती ओली बुल हर माह कुछ भेजती थीं।[५] इसके सिवा माँ जब गाँव में रहतीं, तो मेरी जानकारी के अनुसार निम्नलिखित भक्तगण उन्हें नियमित रूप से रुपये भेजते थे –

मास्टर महाशय –	१० रुपये
ललित –	१० रुपये
सुप्रसिद्ध बैरिस्टर एस.एन. बैनर्जी की माता –	१० रुपये
स्वामी त्रिगुणातीतानन्द –	५ रुपये

(२८) माँ कलकत्ते में कई जगह घूमने जातीं, परन्तु हम लोगों ने देखा है कि दक्षिणेश्वर बिल्कुल नहीं जाना चाहतीं।

(२९) पुरी में पुरुषोत्तम-दर्शन के समय माँ ने एक शिष्य के मस्तक को रत्नवेदी से स्पर्श कराकर कहा था, "गुरु-इष्ट को एक साथ देखना चाहिए – देख।"

(३०) माँ की भाषा साधारणत: दो प्रकार की थी। हम लोगों के साथ कलकत्ते की बोली में और गाँव के लोगों या अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ उसी अंचल की बोली में बातें करती थीं। तो भी उनकी गाँव की बोली बिल्कुल शुद्ध नहीं थी, उसमें कलकत्ते की बोली मिल जाती थी।

(३१) एक सेवक द्वारा किसी निर्जन स्थान में जाकर तपस्या करने की इच्छा व्यक्त करते हुए अनुमति माँगने पर माँ ने कहा था, "लाटू पंचवटी में बैठकर ध्यान करता था। ठाकुर ने शौच के लिये जाते समय उसे देखकर कहा था, 'अरे, क्या तू जानता है कि तू जिसका ध्यान कर रहा है, वह तो बर्तन माँजते हुए और हण्डियाँ उतारते हुए मर रही है।' तभी से लाटू नौबतखाने में आकर मेरे बर्तन माँजता, मसाला पीसता और मैदा गूँथता। पर जब तुम्हारी जाने की इच्छा हुई है, तो विष्णुपुर जाकर लालबाँध पर रहना। वहाँ मृण्मयी के पुजारी वृद्ध ब्राह्मण हैं, उन्हें मेरा नाम बताना, वे तुम्हें बड़े यत्नपूर्वक रखेंगे। बाद में मेरे गाँव जाने पर, वहाँ आना।

(३२) मृण्मयी देवी के प्राकट्य के विषय में माँ से एक बार जो कुछ सुना था, वही लिख रहा हूँ – "पुजारी ब्राह्मण की हालत बड़ी खराब थी। एक दिन मृण्मयी ने स्वप्न देकर कहा, 'मैं लालबाँध के पानी में पड़ी हूँ – तू निकालकर मेरी सेवा कर।" ब्राह्मण ने तालाब के बीच में जाकर देवी को देखा। तब उन्होंने देवी को निकालकर लालबाँध के घाट पर स्थापित किया और पूजा शुरू कर दी। जगदम्बा की कृपा से अब ब्राह्मण की अवस्था अच्छी हो गयी है।"

३. विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि उल्लेखित सेविका सरला देवी (परवर्ती काल में प्रवाजिका भारतीप्राणा) ही थीं।

४. बाकी दो स्वामी विशुद्धानन्द (जितेन महाराज) और स्वामी गिरिजानन्द (गिरिजा महाराज) थे। (द्र: श्रीमाँ सारदा देवी (बँगला) – स्वामी गम्भीरानन्द, १९८४, पृ. ३६२)

५. श्रीमती ओली बुल जब तक जीवित रहीं, श्रीमाँ की सेवा में अमेरिका से प्रतिमाह ६० रुपये भेजती रहीं।

❖ (क्रमश:) ❖
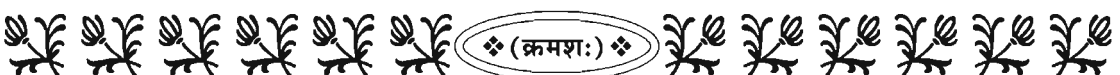
स्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (५)

स्वामी विदेहात्मानन्द

पिछले अंक में हमने देखा कि स्वामी अखण्डानन्दजी के साथ स्वामीजी ने छह दिन नैनीताल में निवास किया और उसके बाद पहाड़ों, जंगलों के मार्ग से अल्मोड़ा की ओर चल पड़े। मार्ग में स्वामीजी को कई प्रकार की आध्यात्मिक तथा अलौकिक अनुभूतियाँ हुईं। काकड़ी घाट में उन्हें शास्त्रों में वर्णित सृष्टि का रहस्य समझ में आ गया। अल्मोड़ा में प्रवेश करने के पूर्व एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना हुई। – सं.)

काकड़ीघाट से अल्मोड़ा

हिमालय की गगनचुम्बी हिमशिखरों का सम्मोहन तथा गम्भीर-ध्यानमय परिवेश उनके मन-प्राण को शान्तिमय आनन्द से परिपूर्ण किये रहता। वे ज्यों-ज्यों ऊँचाइयों की ओर चढ़ते जाते, त्यों-त्यों उनका चित्त भी मानो इस मायामय संसार की दुर्बलताओं से ऊपर उठता जाता। परन्तु उन दिनों हिमालय में यात्रा करना भी एक बहुत बड़ी तपस्या थी – विशेषकर इन दो अकिंचन भिक्षुओं के लिये। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पगडंडियों पर चढ़ाई करने से थकान तो आती ही थी, ऊपर से भोजन तथा विश्राम का भी कोई ठिकाना नहीं था। अयाचित भाव से जो भी मिल जाता, उसे खा लेते; जहाँ सिर समाता, लेट जाते। भगिनी निवेदिता ने लिखा है, "दोनों गुरुभाई न जाने कितने दिनों से अनाहार थे। सम्भवत: इन्हीं दिनों, और जैसा कि बाद के दिनों के बारे में हम निश्चित रूप से उनके उस व्रत के विषय में जानते हैं, जिसके अन्तर्गत वे अयाचित भाव से मिले हुए खाद्य या पेय को ही ग्रहण करते थे। उस काल में उन्हें जाननेवाले किसी व्यक्ति ने जब उनसे पूछा कि इस व्रत के दौरान वे अधिकतम कितने दिनों तक निराहार रहे, तो उन्होंने बताया था – पाँच दिन।"[१] अगले दिन वे लोग काकड़ी घाट से अल्मोड़ा की ओर चल पड़े। यह दूरी लगभग २२ किलोमीटर है।

मुसलमान फकीर द्वारा प्राणरक्षा

वहाँ पहुँचने के कुछ दूर पहले ही स्वामीजी रास्ते के थकान और भूख-प्यास से बेहाल हो गये। आगे चल पाने में असमर्थ होकर वे वहीं धरती पर लेट गये। आसपास कोई बस्ती या मकान नहीं था। अखण्डानन्द पानी की तलाश में निकल पड़े। उन्होंने देखा कि थोड़ी दूर पर मुसलमानों का एक कब्रिस्तान और एक पीर का स्थान है। वहाँ जाकर पता चला कि एक कुटिया में एक मुसलमान फकीर रहते हैं। भिक्षा माँगने पर वे बोले, "बाबाजी, मेरे पास खाने लायक और कुछ तो नहीं है, बस, एक खीरा दे सकता हूँ।" अखण्डानन्द ने वही खीरा लाकर स्वामीजी को दिया। उसे खाकर उन्हें बड़ी तृप्ति मिली और उनकी प्राणरक्षा भी हुई।[२]

स्वामीजी की अंग्रेजी जीवनी के अनुसार उस मुसलमान फकीर का नाम जुल्फिकार अली था। इस घटना की स्मृति में, जहाँ पर स्वामीजी ने फकीर का दिया हुआ खीरा खाया था, उस स्थान पर सुप्रसिद्ध कृषि-वैज्ञानिक श्री बोशी सेन तथा उनकी पत्नी ग्रेट्रुड इमर्सन सेन द्वारा एक पार्क तथा विश्रामगृह बनवाया गया, जिसका उद्घाटन १९७१ ई. की जुलाई में सम्पन्न हुआ।[३]

अमेरिका तथा इंग्लैंड में अनेक वर्षों तक सनातन वेदान्त के भावप्रचार द्वारा भारत को गौरवान्वित तथा स्वयं भी विश्व-प्रसिद्धि हासिल करने के बाद जब १८९७ ई. के मई में स्वामीजी दुबारा अल्मोड़ा पधारे। उनकी इस यात्रा का विवरण इस प्रकार है, "(११ मई को) अल्मोड़ा के निकट लोदिया नामक स्थान में पहुँचने पर एक विशाल जनसमूह ने जयध्वनि के साथ स्वामीजी का हार्दिक स्वागत किया। ये लोग स्वामीजी के लिए एक सुसज्जित घोड़ा ले आए थे, उसी के पीठ पर उन्हें बैठाकर एक शोभायात्रा और अविराम जयध्वनि के साथ लोग उन्हें नगर की ओर ले चले। नगर के गृहद्वार उस समय दीपमालाओं से आलोकित हो रहे थे और राजपथ मालाओं तथा ध्वजाओं से सजा हुआ था। बाजार की एक ओर उनके स्वागतार्थ सुन्दर चँदोवा लगा हुआ एक विशाल मण्डप बनाया गया था। उस मण्डप तक जाने के मार्ग में नगर की सैकड़ों ललनाओं ने उनके मस्तक पर पुष्प तथा अक्षत की बर्षा की। सभास्थल में पहुँचने पर देखा गया कि वहाँ लगभग पाँच हजार लोग एकत्र हो गए हैं।"[४]

यह मण्डप लाला बद्रीशाह के मकान के सामने सड़क पर झंडियाँ बाँधकर बनाया गया था।[५] सभा की कार्यवाही शुरू हुई। स्वागत-समिति की ओर से प्रस्तुत किये गये कई अभिनन्दन-पत्रों का पाठ हो जाने के बाद स्वामीजी ने एक अत्यन्त प्रेरणादायी व्याख्यान दिया।

स्वामीजी ने देखा कि उपस्थित जनसमूह के एक किनारे वह फकीर भी खड़ा है। फकीर ने उन्हें नहीं पहचाना था;

१. Complete Works of Sister Nivedita, Vol.1, 1972, Pp.59-60; The Master as I saw him, 1972, p.71; २. स्वामी अखण्डानन्द, पृ. ६३; स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, पृ. ५४-५

३. The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples, 1979, Vol. I, p. 251

४. युगनायक विवेकानन्द, नागपुर, सं. १९९८, खण्ड ३, पृ. १९

५. Swami Vivekananda's Three Visits to Almora, p.11 (See P.B)

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

पुस्तक-समीक्षा

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

कठोपनिषद प्रवचन

प्रवचनकार – स्वामी रामानन्द सरस्वती जी महाराज
प्रकाशक – श्रीमार्कंडेय संन्यास आश्रम, पब्लिक ट्रस्ट, ओंकारेश्वर, मान्धाता, जिला - खण्डवा, (मध्य प्रदेश)
फोन नं. ७२८०-२७१२६७, मो. ९८२७८१३७११

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द जी ने भारतीय संस्कृति के प्राण वेद और उपनिषदों के मंत्रों के शाश्वत सत्य को अभिनव रूप में देश-विदेश में स्व-मुखारविन्द से प्रचार-प्रसार किया। उपनिषदों की कालजयी अमर शक्ति की सिंह गर्जना के द्वारा भारत की सुषुप्त जड़प्राय जन-मानस-चेतना में विपुल शक्ति संचार किया। उपनिषदों की महाशक्ति से प्रबल प्रभावित और पूर्ण श्रद्धा समर्पित स्वामी विवेकानन्द के मानस पटल पर कठोपनिषद का सर्वाधिक प्रभाव था। वे कठोपनिषद के प्रमुख नायक और परम तत्वजिज्ञासु वाजश्रवा के पुत्र नचिकेता की श्रद्धा का बड़ी श्रद्धा से उल्लेख किया करते थे। भारतीय संस्कृति के गौरव और विश्व के परमात्म-पथ-प्रदर्शक उद्दालकसुत नचिकेता की अगाध श्रद्धा और लोकमंगलकारी जिज्ञासा अनन्त काल तक ईश्वरान्वेषक और तत्त्व जिज्ञासुओं को प्रेरणा प्रदान करती रहेगी। श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् – श्रद्धावान जिज्ञासु ही ज्ञान को प्राप्त करता है। श्रद्धापूर्ण हृदय में ज्ञान की अगाध राशि स्थिर होती है। ज्ञान-ग्रहण और रक्षण तथा उसके सम्पूर्ण मानवता के लिये परम उपयोगी बनाने के लिये नचिकेता की श्रद्धा, धैर्य, त्याग एवं विवेक साधक एवं तत्त्व जिज्ञासुओं के लिये अनुकरणीय हैं।

परमपूज्य ब्रह्मज्ञ सन्त सदा ईश्वराश्रित जीवन व्यतीत करने वाले ब्रह्मलीन स्वामी रामानन्दजी महाराज के दिव्य जीवन से विवेक ज्योति के पाठक परिचित हैं। पूज्य महाराज जी के द्वारा शेगाँव और बाराबंकी में दिये गये प्रवचनों को उनके द्वारा संस्थापित आश्रम ओंकारेश्वर के मार्कण्डेय संन्यास आश्रम द्वारा 'कठोपनिषद प्रवचन' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है।

पूज्य महाराज जी ने कठोपनिषद में निहित तत्त्वों की अभिनव व्याख्या की है एवं उसे समझाने हेतु कई दृष्टान्त भी प्रस्तुत किये हैं।

शंकराचार्य जी कहते हैं कि मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का सान्निध्य दुर्लभ है। मनुष्यता कैसे आरम्भ होती है, इस सम्बन्ध में स्वामी रामानन्द जी महाराज कहते हैं – "जब हम अपने जीवन में कर्तव्य-बुद्धि से प्रवृत्त होते हैं, तभी मनुष्यता का आरम्भ होता है। वह कर्तव्य-बुद्धि कैसे आती है? नित्यकर्म से आती है। महाराजजी कहते हैं – "नित्यकर्मों का उद्देश्य है पशुत्व बुद्धि को दूर करके कर्तव्यबुद्धि आ जाय।" (पु.पृ.-१३)

इस पुस्तक में कुल दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में तीन वल्ली और द्वितीय अध्याय में तीन वल्ली की व्याख्या की गयी है। विषय की भूमिका वेदों के उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का परिचय देते हुये महाराजजी ने कठोपनिषद के मूल स्रोत का उल्लेख किया। शान्तिमंत्र में त्रिविध दुखों से मुक्ति हेतु ईश्वरीय प्रार्थना के बाद प्रथम वल्ली से महाराज कठोपनिषद के प्रथम मन्त्र की चर्चा आरम्भ करते हैं। उसके बाद विभिन्न प्रसंगों का उल्लेख करते हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख मैं करता हूँ –

पिछले पृष्ठ का शेषांश

और पहचानता भी तो कैसे! कहाँ उस समय के एक भूखे संन्यासी और कहाँ आज के विश्वविश्रुत विवेकानन्द! परन्तु स्वामीजी ने उसे ठीक पहचान लिया और कृतज्ञता-पूर्ण हृदय से अपने पास बुलाकर उसे गले से लगा लिया। तदुपरान्त उन्होंने सभी लोगों को घटना की जानकारी देते हुए बताया, "वस्तुत: इन्हीं ने उस दिन मेरी प्राणरक्षा की थी, क्योंकि इसके पूर्व मैं कभी भी भूख से इतना कातर नहीं हुआ था।" स्वामीजी ने फकीर को कुछ रुपये भी दिये थे।

स्वामीजी के एक गुरुभाई लाटू महाराज (स्वामी अद्‌भुतानन्द जी) उनके साथ गये थे। उनका विवरण थोड़ा भिन्न है। उन्होंने इस प्रसंग में कहा था, "स्वामीजी इतने-से उपकार को भी बहुत बढ़ाकर देखते थे, छोटा-सा उपकार भी कभी भूलते न थे। अल्मोड़ा में जब मैं बद्रीशाह के घर में था, तब स्वामीजी एक मुसलमान फकीर को देख दौड़कर गये और उसके हाथ में दो रुपये दिये। मैं तो अवाक् ही रह गया। मैंने पूछा, 'इस आदमी को रुपये क्यों दे रहे हो?' स्वामीजी बोले, 'इस फकीर ने मेरी प्राणरक्षा की थी। मैं जब यहाँ भूख से अचेत हो पड़ा था, तब इसी ने मुझे ककड़ी खिलाकर बचाया था। तू कहता क्या है रे, लेटो! इसका ऋण क्या रुपये देकर चुकाया जा सकता है? दुर्दिन के उपकार का कभी मूल्य नहीं दिया जा सकता।' "[५]

खैर, यह तो बाद की बात है। अब हम पुन: अपने पुराने विवरण पर लौट चलते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

५. अद्‌भुत सन्त अद्‌भुतानन्द, नागपुर, प्रथम संस्करण, पृ. २०५

धर्म के सम्मान से नियंत्रण और उपेक्षा से हानि

''जगत की कामना हमें अपराध में प्रवृत्त कराती है। कामना को शत्रु कहा, क्योंकि यह धर्मप्रवृत्ति में बाधक है। कामना की प्रवृत्ति होने पर धर्म गौण हो जाता है, उसका अपमान होता है। धर्म के अपमान से आपकी हानि निश्चित है। धर्म की प्रधानता होती है, तो कामना नियन्त्रित रहती है, वह आपको नीचे नहीं ले जा सकती। कामना की प्रबलता से धर्म के गौण होने पर आप अधर्म से भी अपनी कामना को पूर्ण करने का प्रयास करते हैं। आप अशास्त्रीय कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। यही धर्म की ग्लानि है।... जगत की कामना है, तो कभी भी दोष उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि उद्दालक जैसे ऋषि के मन में भी दोष आ गया था।'' (पु. पृ-१७)

अतिथि की उपेक्षा न हो

जिसके घर से ब्राह्मण अतिथि भूखा, अपमानित लौट जाता है, वह अतिथि उस पुरुष के सम्पूर्ण पुण्यों का और पुण्यफलों का नाश कर देता है। पु.पृ.-९

यमराज की महानता

''बड़े लोगों में अभिमान नहीं होता, अपनी गलती होने पर क्षमा माँग लेते हैं। भारत की क्या परम्परा थी !'' नचिकेता तीन दिन भूखे द्वार पर पड़े रहने के कारण यमराज उनसे क्षमा माँगते हैं और इसके बदले उन्हें तीन वर प्रदान करते हैं। इसी प्रसंग में नर्मदा-तट की कहानी का महाराज जी उल्लेख करते हैं।

लोक संस्कृति में अतिथि सेवा

नर्मदा-तट की कहानी

''एक बार नर्मदा परिक्रमा के दौरान हम एक गाँव में एक व्यक्ति के घर ठहरे। रात में उस व्यक्ति ने कहा कि महाराज! आप बना हुआ भोजन पायेंगे अथवा स्वयं बनायेंगे? हमने कहा – ''शाम को तो हम कुछ भी भोजन पाते ही नहीं।'' यह सुनकर उसने कहा महाराज ! ऐसा है, तो यहाँ मत ठहरिये। आप मेरे घर रातभर ठहरेंगे और भूखे रहेंगे, तो मुझे बड़ा भारी पाप लग जायेगा।''

लोकहित हेतु स्वर्ग-साधन माँगना

नचिकेता ने मृत्युलोक के वासियों के सुख-सुविधआ हेतु यमराज से स्वर्ग-सुख के साधन को माँगा।

कर्मकांड का फल बाद में किन्तु
ईश्वरीय फल तुरन्त

''परमात्मा व्यापक होने से दूर तो हैं नहीं, सबको नित्य प्राप्त हैं। पर उसका बोध नहीं हो रहा है, वह भूला हुआ है। परमात्मा का बोध होने के कितने समय के बाद परमात्मा प्राप्त होगा? वहाँ कोई समय नहीं लगेगा। बोध होने के साथ ही परमात्मा प्राप्त हो जाता है। वास्तव में बोध ही परमात्मा की प्राप्ति है। बोध और प्राप्ति में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है। यज्ञ आदि का फल करने के बाद, समय आने पर मिलता है। जबकि ज्ञान में तत्क्षण (ज्ञानसमकाल) फल की प्राप्ति हो जाती है।''

शास्त्रीय नियम और हृदय

''शास्त्र में नियम को सर्वोपरि माना गया है, परन्तु तब भी हृदय की उदारता के ऊपर कहीं भी प्रतिबन्ध नहीं है।''

माता-पिता का कर्तव्य और बालकों को सुसंस्कार देना

''अपने यहाँ उस व्यक्ति को प्रमाणिक मानते हैं, जो माता-पिता और आचार्य से अनुशासित हुआ हो। माता के बालक के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है। व्यवहार में माता जैसे सिखाती है, बालक धीरे-धीरे वैसा ही अभ्यस्त हो जाता है। हाथ-पैर धोना आदि माता ही सिखाती है। बचपन में बालक को टोककर, धमकाकर और समझाकर ठीक ढंग से आचार सिखा दिया जाय, तो वह जीवनभर बना रहता है। बालक को गलत आदत नहीं पड़े, इसके लिये माता को मोह छोड़कर सावधानी अपनाना चाहिये।

''इसके बाद पिता अपने कुल की मर्यादा, अपने वर्णाश्रम का आचार-व्यवहार, अपने पूर्वजों के वृत्त को बताता है। स्वयं उचित आचरण करके बालक में संस्कार डालता है। फिर विद्यालय में गुरु अपनी पूरी शक्ति लगाकर बालक के जीवन को गठित करता है। यदि आपके जीवन में चरित्र-निर्माण नहीं है, तो कोई भी वैदिक या स्मार्त विद्या आपको फलवती नहीं हो सकती। जिसका जीवन वेद, स्मृति और शिष्ट पुरुषों इन तीनों से अनुशासित है, वही वस्तुतः इस विद्या का अधिकारी है। ये तीनों उसके लिये प्रमाणभूत हैं। वह वेद और स्मृति की आज्ञा के अनुसार व्यवहार करता है और शिष्टों के आचरण का अनुसरण करता है।''

इस प्रकार इस ग्रन्थ में मानवीय मूल्यों, उसके आदर्शों और परमार्थ तत्त्व पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जीवन में परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु शास्त्र तथा ऋषियों की उपयोगिता, श्रद्धा, सेवा, समर्पण और साधना के पक्षों को स्वानुभव के साथ स्पष्ट रूप से आलोकित किया गया है। साधना की बाधाओं और उसके निराकरण का निर्देश है और मुक्ति के आनन्द का उल्लास का रेखांकन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकोपकारी है। मैं प्रवचन-सागर से इस ग्रन्थ-रत्न को निकालने के लिये इसके सम्पादक और उनके सहयोगी सन्तों को विशेष रूप से नमन करता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि सिन्धु-तल में छिपे अन्य रत्नों को भी सम्पादक-मंडली लोक-कल्याण के लिये जिज्ञासुओं के लिये सहज उपलब्ध करायेगी। हरि ॐ !!! ❑❑❑

२६६. नीच निचाई तजै न कभी

एक बार इन्दौर के राजा तुकोजी राव होल्कर द्वितीय के दरबार में तीन अपराधियों को उपस्थित किया गया। उनके अपराध पूछने पर कोतवाल ने बताया, ''महाराज, ये तीनों गल्ले के व्यापारी हैं, परन्तु जनता को अधिक भाव पर सड़ा-गला अनाज मिलाकर मुनाफाखोरी करते हैं।''

राजा सिंहासन से उठकर उन तीनों के सामने खड़े हो गए। फिर पहले से कहा, ''अरे, तुम भी गलत काम करते हो!'' वह व्यापारी शर्मिन्दा हो, जमीन की ओर देखने लगा। उन्होंने जब दूसरे से कहा, ''तुमने बहुत गलत काम किया है।'' तो उसकी आँखों से आँसू निकल आए। तीसरे से जब उन्होंने कहा, ''क्या तुम गरीबों के साथ लूट-खसोट नहीं कर रहे हो?'' तो उसने अनसुना कर दिया और राजा की ओर घूर-घूर कर देखने लगा।

राजा ने आसन ग्रहण किया और फैसला सुनाया, ''पहले व्यापारी को धमकी देकर रिहा कर दो, दूसरे को दिन भर खड़ा ही रखा जाए और तीसरे का आधा सिर मुड़वाकर उसे नगर में घुमाया जाय।'' दरबार खत्म होने के बाद कोतवाल ने राजा से पूछा, ''तीनों का अपराध एक ही था, तो भी आपने उन्हें अलग-अलग सजा क्यों दी?'' राजा ने उत्तर दिया, ''इन सजाओं की तीनों पर क्या-क्या प्रतिक्रिया होती है, इसे कल तुम खुद ही देख लेना।''

अगले दिन राजा तथा कोतवाल वेश बदलकर पहले व्यापारी के घर गए। उसके बारे में पूछने पर लोगों ने बताया कि पकड़े जाने की उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई है, अत: वह नगर छोड़कर कहीं चला गया है। दूसरे के बारे में पूछने पर उसके बेटे ने बताया, ''पिताजी ने स्वयं को एक कमरे में बन्द कर लिया है और मुझसे कहा है कि मैं कोई दूसरा अच्छा धन्धा करूँ।'' तीसरे के बारे में लोगों ने बताया कि वह जब कल घर वापस आया, तो उसने राजा को गालियाँ दीं और कहा, ''हेराफेरी ही तो हमारे धन्धे का रहस्य है। इसके बिना हम मुनाफा कमा ही नहीं सकते। राजा इसे भले ही गुनाह समझता हो, मगर हम तो इसे अपना धर्म समझकर मिलावट करते रहेंगे। राजा का काम है पक्षपात करना और बेगुनाहों को सजा देना।'' राजा ने चुपचाप सुना और लौटते समय कोतवाल से कहा, ''मेरे सामने उन्हें पेश किये जाने पर मैंने उनके चेहरे पर उनके आन्तरिक भावों को पढ़ लिया था और तदनुसार ही उन्हें सजा सुनाई थी।''

२६७. मन का त्याग ही सच्चा त्याग है

उत्कल ऋषि के उज्ज्वल और प्रखर नाम के दो शिष्य थे। एक बार वे दोनों सड़क से भिक्षाटन के लिए जा रहे थे कि अचानक वर्षा होने लगी। इससे सड़क पर जहाँ-तहाँ कीचड़ जमा हो गया। इतने में सामने से एक युवती आती दिखाई दी। वह कीचड़ से बचने का प्रयास करती हुई चल रही थी। उज्ज्वल ने जब देखा कि युवती फिसल गयी है और गिरने ही वाली है, तो वह दौड़कर उसके पास जा पहुँचा। उसने सहारा देकर उसे गिरने से बचाया और सड़क पार करने में उसकी मदद भी की। युवती ने उज्ज्वल के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की और अपने रास्ते निकल गई।

कुछ दिनों बाद दोनों एक बार फिर उसी सड़क से होकर जा रहे थे। प्रखर ने अपने गुरुभ्राता से कहा, ''उज्ज्वल, हमारे लिये परस्त्री का स्पर्श वर्जित है, परन्तु उस दिन जब वर्षा हो रही थी, तब तुमने इसी सड़क पर एक युवती को न केवल स्पर्श किया, बल्कि उसे अपनी बाँहों का सहारा देकर उठाया भी था। क्या यह पाप नहीं हुआ?'' उज्ज्वल ने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया, ''भाई, हम ब्रह्मचारियों को नर-नारी का भेद नहीं करना चाहिए। हमारी दृष्टि में ये मात्र मनुष्य हैं। उन्हें कष्ट में देखकर हमारा कर्तव्य बनता है कि हम तत्काल उनका दु:ख-दर्द दूर करने की चेष्टा करें। मैंने तो उस स्त्री को प्राणी मात्र मानकर उसे गिरने से बचाया था, पर तुम तो अभी भी उसे अपने मन में उठाए हुए हो, तुम्हारे समान विरागी जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए यह कदापि शोभनीय नहीं है। आलस्य-प्रमाद, आशा-तृष्णा, परस्त्री दर्शन आदि का मिथ्याभिमान, पूर्व घटनाओं का चिन्तन आदि हमारे ब्रह्मचर्य जीवन तथा साधना के व्यवधान हैं। हमें अपने मन में दुर्विचारों को नहीं पनपने देना चाहिए। हमारा अन्त:करण सदैव निर्मल तथा निष्काम होना चाहिए। अन्त:करण की शुद्धि से ही भक्ति और ज्ञान का उदय होता है।''

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी विजयानन्द

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ तथा मिशन के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी आध्यात्मिक भावों के एक अपूर्व ज्योतिपुंज थे। उनके बारे में ये संस्मरण हालीवुड (अमेरिका) से प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी द्विमासिक पत्रिका 'वेदान्त एंड द वेस्ट' के मार्च-अप्रैल १९७४ के अंक में प्रकाशित हुए थे। वहीं से स्वामी विदेहात्मानन्दजी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

१९१६ ई. हावड़ा स्टेशन के प्लेटफार्म पर मैंने स्वामी ब्रह्मानन्दजी का प्रथम बार दर्शन किया। वे उस समय उड़ीसा के भद्रक या कोठार नामक स्थान को जा रहे थे। उन दिनों मैं महाराज के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। प्लेटफार्म से ही मैंने देखा कि कूचबिहार महाराजा की सफेद रोल्स-रायस गाड़ी से गैरिक वस्त्रधारी एक स्थूलकाय संन्यासी नीचे उतरे। उनके गले में पुष्पमालाएँ थीं। प्लेटफार्म पर आकर वे दूसरी ओर खड़ी ट्रेन के एक डिब्बे की ओर बढ़ने लगे। उनके पीछे-पीछे कई संन्यासी तथा सौ से अधिक अन्य लोग भी चल रहे थे। फिर ट्रेन के एक डिब्बे में से एक वयस्क महिला आईं और महाराज ने प्लेटफार्म पर ही उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। वे बोलीं, "अरे बच्चो, राखाल को पकड़कर रखो।" तब अन्य संन्यासियों ने खूब सावधानीपूर्वक महाराज को सँभाल लिया। वे हाथ जोड़े – माँ ! माँ ! कहते रहे। तदुपरान्त उन महिला ने कहा, "राखाल बेटा ! तुम वहाँ पहुँचकर मुझे तार देना और वहाँ बच्चों से कहना कि वे मुझे हर सप्ताह दो पत्र लिखा करें। शुरू में उबला हुआ पानी पीना और भक्त लोग जो कुछ भेजें, चाहे जितने भी यत्न के साथ क्यों न भेजें, सब कुछ मत खाना।"

पता लगाने पर बाद में मालूम हुआ कि ये महिला श्रीरामकृष्ण देव की लीला-सहधर्मिणी श्री सारदादेवी थीं और वे संन्यासी ठाकुर के मानसपुत्र तथा स्नेहभाजन राखाल महाराज थे। ये बातें जानने के बाद मैं विचारों के प्रवाह में डूबता-उतराता अपने निवास-स्थान को वापस लौटा।

तदुपरान्त दूसरी बार मैंने महाराज का बेलूड़ मठ के मैदान में टहलते हुए दर्शन किया था। उनके साथ पूजनीय बाबूराम महाराज, महापुरुष महाराज, शरत् महाराज और खोका महाराज* भी थे। वे लोग मन्दिर से पुराने औषधालय के बीच धीरे-धीरे टहल रहे थे। इसके पहले और बाद में भी मैंने महाराज के चलने का जो ढंग देखा, वह अपूर्व था, मैंने अन्य किसी में कभी वैसी चाल नहीं देखी।

१९२० ई. के जनवरी में मुझे उनका तीसरी बार दर्शन मिला। महापुरुष महाराज की कृपा से मैं तब ब्रह्मचारी के रूप में मठ में प्रवेश ले चुका था। स्वामीजी (विवेकानन्द) की तिथिपूजा के उपरान्त महाराज भुवनेश्वर से वापस लौटे। उनका प्रांगण में प्रवेश करना और आम्रवृक्ष के नीचे बैठना, एक उत्सव जैसा लगा। एक-एक कर सभी संन्यासी एवं ब्रह्मचारी उन्हें प्रणाम करने लगे। सब के अन्त में मेरे प्रणाम करते समय पूजनीय महापुरुष महाराज बोले, "राजा, इसी लड़के का नाम पशुपति है। अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें इसी के बारे में लिखा था। इसने पहले तुम्हें देखा है।" पूजनीय महाराज (मेरी ओर उन्मुख होकर) बोले, "पहले तू शायद और भी मोटा था !" मैंने उत्तर दिया, "नहीं महाराज, इसके ठीक उल्टे ! बल्कि आप ही और मोटे थे।" सुनकर महाराज हँसने लगे और उस दिन से मेरा डर-भय सदा के लिये चला गया।

वे रामकृष्ण मठ व मिशन के राजा थे – संघाध्यक्ष थे, सभी उन्हें परम श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु मेरे लिये तो वे परम आत्मीय थे। मैंने उनके सम्मुख काफी कुछ शैतानी भी की है, जैसे कि एक छोटा बच्चा अपने पिता के समक्ष किया करता है।

मुझे अनुभव हुआ था कि महाराज दया के सागर हैं। सिर्फ एक को छोड़ वे सारी गलतियाँ माफ कर देते थे, और वह था झूठ बोलना, जिसे कि वे बिल्कुल नापसन्द करते थे। वे कहा करते, "भय की वजह से झूठ बोलना तो बल्कि क्षम्य भी है, पर जो जानबूझकर झूठ बोलता है, वह भगवान से दूर होता जाता है।" मैं बड़ी सावधानीपूर्वक उनकी कार्य-प्रणाली का निरीक्षण किया करता था। मैंने देखा कि रामकृष्ण संघ में वे 'महाराज' के रूप में सुविख्यात हैं। वे जब जो भी कार्य हाथ में लेते, उसे बड़ी सुन्दरता के साथ सम्पन्न करते। एक दिन मैं पूछ बैठा, "महाराज, आप छोटी-छोटी चीजों पर इतना ध्यान क्यों देते हैं?" उत्तर में वे बोले, "भाई, जिसे तुम लोग छोटा कहते हो, उसी को बड़ा समझना सिखाने के लिए ठाकुर ने मुझे इस शरीर में रख छोड़ा है।" उसी समय उन्होंने मुझसे यह भी कहा, "Patience with limit is intolerence" (सीमित धैर्य असहिष्णुता है)। फिर बोले, "देखो भाई, तुम्हें व्याख्यान तथा रिलीफ (राहत कार्य) के लिये जाना पड़ता है। कभी किसी भी कारणवश किसी का अपमान न करना। किसी को कोई वस्तु लापरवाही के साथ न देकर, पूजा में पुष्पांजलि (मुद्रा दिखाकर) के समान देना। जानते हो इसका क्या फल होगा? इससे तुम्हारा भी चित्त शुद्ध होगा और लेनेवाले के मन को भी चोट नहीं पहुँचेगी।"

* श्रीरामकृष्ण के चार संन्यासी शिष्य – स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी सारदानन्द और स्वामी सुबोधानन्द।

एक दिन महाराज मठ में ही टहल रहे थे कि मैं अपने हाथ में शांकरभाष्य सहित गीता लिये हुए उधर से होकर गुजरा। मुझे देखकर वे बोले, "तुम्हारे हाथ में वह क्या है?" मेरे सूचित करने पर वे बोले, "भगवद्गीता ! अच्छी बात है, तुम्हें एक बात कहता हूँ, सुनो। गीता का पहली और दूसरी बार का अध्ययन एक शब्दकोष की सहायता से करना। सबसे पहले मूल को जान लेना। देखो, शंकर, निम्बार्क आदि महान् भाष्यकार बड़े कुशाग्र बुद्धि से सम्पन्न थे। उनके विचारों में बड़ी मोहिनी शक्ति है। अत: पहले मूल में जो कुछ लिखा है, उसे अच्छी तरह समझ लो। श्रीकृष्ण ने जिस समय अर्जुन को गीता का उपदेश दिया, उस समय क्या उनके मन में शंकराचार्य या अन्य कोई था?"

महाराज में बुरी तरह डाँटने की क्षमता थी और वे बड़े कठोर भी हो सकते थे। एक बार उन्होंने मठ में मुझे एक कार्य दिया था। एक भवन के दोनों ओर दो पौधे बढ़ रहे थे। मुझे वहाँ ले जाकर उन्होंने कहा, "देखो, यहाँ पर दो पौधे हैं। इन्हें प्रतिदिन प्रात: और सायं छह बजे पानी देने की जरूरत है। क्या तुम मेरे लिये इतना कर सकोगे?" मैने कहा, "निश्चय ही कर सकूँगा।" उस दिन से मैं नीयत समय पर बाल्टी में पानी लाकर उनमें डालता रहा। एक दिन दोपहर में किसी कार्यवश मुझे कलकत्ते जाना पड़ा और पौधों में पानी डालने की कोई अन्य व्यवस्था कर जाने की बात मेरे ख्याल में ही नहीं आयी। शाम को छह बजे मुझे अपने कर्तव्य का स्मरण हुआ, पर मैंने सोचा कि अब वापस लौटने में अधिक विलम्ब नहीं है, अत: लौटते ही पानी डाल दूँगा। मठ में पहुँचकर पानी डालते (रात के) नौ बज गये। इस पर अगले दिन महाराज ने मेरी अच्छी खबर ली। उन्होंने पूछा, "क्या कल शाम उन पौधों को समय पर पानी मिला था?" फिर वे मुझे फटकारते हुए बोले, "क्या तुम किसी दूसरे के द्वारा इसकी व्यवस्था करके नहीं जा सकते थे? तुम पर विश्वास नहीं किया जा सकता। गुरु से प्रेम न रखनेवाला शिष्य ही उनकी अवज्ञा करता है।" इस प्रकार वे डाँटते रहे, आखिरकार मैं रुँआसा होकर बोल उठा, "रुकिये, रुकिये, महाराज !" वे तुरन्त ही द्रवित हो गये और कहने लगे, "देखो, पौधों को भी नीयत समय पर प्यास लगती है। उन्हें पानी देने का समय छह बजे था, नौ बजे नहीं।"

इस घटना के पूर्व तथा बाद में भी मैंने ध्यानपूर्वक देखा है; और मुझे अब भी याद है कि महाराज का आदेश देने का तरीका बड़ा अद्भुत था। किसी कार्य के लिए आदेश देते समय वे कहते, "यह कार्य करोगे क्या?" सुदीर्घ ४३ वर्षों के बाद मुझे आज भी याद है कि वे किस प्रकार इतनी मधुर बातों से हमारा मन मुग्ध कर लेते और उनका आदेश पालन करने में हमें कोई भी कष्ट या परेशानी नहीं होती थी।

निम्नलिखित घटना १९१९ ई.(?) में वाराणासी में घटी थी। मठ की परम्परा के अनुसार 'क्रिसमस इव' का दिन वहाँ ईसा मसीह की पूजा-भोग आदि के साथ मनाया जा रहा था। उक्त अवसर पर वहाँ महाराज, स्वामी शिवानन्द, स्वामी शुद्धानन्द तथा अन्य लोग उपस्थित थे, जिनमें मैं भी एक था। स्वामी ब्रह्मानन्द गम्भीर ध्यान में तन्मय थे, स्वामी शुद्धानन्द बाइबिल से पाठ कर रह थे तथा एक अन्य स्वामीजी गिरीशबाबू द्वारा रचित दिव्य जन्मोत्सव का भजन गा रहे थे, महापुरुष महाराज उनके साथ तबले पर संगत कर रहे थे। भजन समाप्त होने के पूर्व ही सभी मौन हो गये। सबकी दृष्टि मन्दिर के गर्भगृह के सम्मुख बैठे महाराज पर लगी हुई थी। मैंने देखा कि उनका सिर थोड़ा आगे-पीछे हिल रहा था। कुछ काल तक सब कुछ शान्त रहा, फिर सभी वयस्क संन्यासी प्रणाम करके उठने लगे।

महाराज ने पूछा, "तारक दादा, आपने उन्हें देखा क्या?"

स्वामी शिवानन्द ने उत्तर दिया, "हाँ महाराज, मैंने उन्हें आये हुए देखा।"

महाराज पुन: बोले, "वे नीले परिधान में आये थे और मेरे साथ बातें की। सुधीर, क्या तुमने भी उनको देखा?"

स्वामी शुद्धानन्द खेदपूर्वक बोले, "नहीं, परन्तु मैंने एक ऐसी मानसिक शान्ति का अनुभव किया, जैसा कि जीवन में पहले कभी नहीं हुआ था।"

साँझ हो जाने के थोड़ी देर बाद हमने तीन रोमन कैथोलिक पदारियों को बाहर टहलते देखा। महाराज ने मुझे आदेश देते हुए कहा, "जाओ भाई, पादरी लोगों से पूछो कि क्या वे थोड़ा ठहरकर हमारे साथ प्रभु ईसा मसीह को चढ़ाया गया प्रसाद ग्रहण करेंगे !"

मैंने जाकर उनसे पूछा, परन्तु उनका नाराजगीपूर्ण उत्तर था, "हमारे ईसा मसीह को वहाँ सबके सामने रखने का तुम्हें क्या अधिकार है?"

मैंने कहा, "मुझे यह सब नहीं मालूम, परन्तु हमारे संघाध्यक्ष का अनुरोध मानकर क्या आप लोग हमारे प्रसाद में हिस्सा नहीं बटाएँगे?"

रुखाईपूर्वक 'नहीं' कहते हुए पादरीगण चले गये। लौटकर मैंने जब सारी बातें महाराज को बतायी तो उन्होंने केवल इतना ही कहा, "भाग्यहीन, बेचारे !"

महाराज जब बेलूड़ मठ में रहने को आये, तो अनेक ब्रह्मचारी उनके कमरे के बाहर के बरामदे में बैठकर ध्यान किया करते थे। उनमें से किसी-किसी सौभाग्यशाली को महाराज के कमरे में ही उनके साथ ध्यान करने की अनुमति मिलती थी। मैं उस समय नया-नया ही मठ में आया था, अत: मैं ध्यान के बारे में कुछ भी न जानता था और चूँकि तब तक मेरी दीक्षा नहीं हुई थी, अत: मेरे लिये जप करना

भी सम्भव न था। परन्तु एक चीज मुझे अब भी स्पष्ट रूप से याद है, और वह यह कि मठ में सभी आनन्दपूर्वक रहा करते थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो ध्यान के समय महाराज की देह कठोर हो जाती थी, फिर बीच में उन्हें होठों पर जीभ फिराने की भी आदत थी।

एक दिन जब मैं महाराज के पास बैठा ध्यान कर रहा था तो सहसा मेरे मन में यह विचार आया कि यदि मैं इस पवित्र वातावरण में अपने मन को सांसारिक विचारों से भर जाने दूँ, तो क्या होगा? वह इच्छा इतनी तीव्र थी कि मैं तत्काल सांसारिक चीजों का चिन्तन करने लगा। पर मुझे पता चला कि मैं अधिक देर तक ऐसा नहीं कर पाता, एक प्रबल शक्ति इसमें बाधक होती है। तथापि कमरे से बाहर जाते समय मैंने संकल्प किया कि अगली बार मैं और अधिक शक्ति के साथ प्रयास करुँगा। अगले दिन मेरे सांसारिक विचारों का तारतम्य डेढ़ मिनट तक चलता रहा, तदुपरान्त मेरे पाँवों में इतने जोर की पीड़ा होने लगी कि उसे सहन कर पाने में असमर्थ होकर मुझे कमरे के बाहर निकल आना पड़ा। महाराज जब अपने प्रात:कलीन भ्रमण के लिए नीचे उतरे, तो उन्होंने मुझे बुलाया (प्रारम्भ से ही जब कभी हम अकेले रहते थे, तो महाराज मुझे एक अंग्रेजी नाम से पुकारा करते थे, और कहते कि तुम एक पाश्चात्य हो) और बोले – "देखो बाबा, यदि तुम मेरी परीक्षा ही लेना चाहते हो, तो अकेले में लेना। अन्यथा दूसरे साधु लोग यदि यह बात जान गये, तो वे बड़े बलवान हैं और वे तुम्हारी अच्छी खबर लेंगे।"

एक दिन महाराज के साथ टहलते समय मैंने पूछा कि क्या आप मुझे दीक्षा देने की कृपा करेंगे। उन्होंने उत्तर दिया, "वह तो मैं तुम्हें पहले ही दे चुका हूँ।" मैंने कहा, "परन्तु सबके सामने ही तो आपने मुझे सिर्फ ठाकुर का नाम जपने को कहा है। यह भी कोई दीक्षा है?" महाराज ने अत्यन्त मृदु स्वर में कहा, "तुम ऐसे ही चलाते रहो। जब उचित समय आएगा, तो मैं तुम्हें बुला लूँगा।" वाराणसी में प्रवास करके बेलूड़ मठ लौटने के बाद, एक सुबह मैं महाराज के पास गया और उनसे पुन: दीक्षा के लिए प्रार्थना की। उन्होंने अपने स्वाभाविक स्वर में कहा, "मैं तुम्हें मंत्र दूँगा।" और उन्होंने मुझे ईसा मसीह और बुद्धदेव के मंत्र दिये। मैंने विरोध करते हुए कहा, "परन्तु ये तो मेरे आदर्श नहीं हैं। इस पर महाराज बोले, "तुम्हारा मुझसे अधिक महापुरुष से लगाव है, अत: तुम उनके पास जाकर दीक्षा के लिये अनुरोध करो।" मैंने उत्तर दिया, "महाराज, आप ध्यानपूर्वक सुन लीजिये, मैंने आपको ही गुरु के रूप में वरण कर लिया है। यदि आप मुझे दीक्षा नहीं देंगे, तो मैं ऐसे ही जीवन बिता दूँगा।" मेरी आँखों में आँसू आ गये थे, मैंने शीघ्रतापूर्वक उन्हें प्रणाम किया और चरण स्पर्श करके नीचे उतर आया।

दो दिन बाद स्वामी ओंकारानन्द, महाराज का सन्देश लेकर मेरे पास आये कि उन्होंने मुझे तत्काल सारे काम छोड़ कर आने को कहा है। सुनकर मैं उद्विग्न हो गया और जाकर उन्हें प्रणाम करने के बाद उनके आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। मेरे जीवन में आये व्यक्तियों में सर्वाधिक प्रिय 'महाराज' अपनी मधुर वाणी में बोले, "वत्स, कल का दिन शुभ है। ठाकुर की कृपा से मैं तुम्हें (कल ही) दीक्षा दूँगा। गंगास्नान करके शुद्ध कपड़े पहनने के बाद ध्यानकक्ष के सामने चुपचाप बैठना। तैयारी हो जाने पर मैं तुम्हें बुला लूँगा।" अगले दिन मैं दीक्षा लेनेवाले अन्य लोगों के साथ वहाँ पहुँच गया। प्रात:काल सात बजे महाराज ने अपनी राजकीय चाल में ध्यानकक्ष में प्रवेश किया। उनके पीछे-पीछे स्वामी निर्वेदानन्द ने भी जाकर उनके लिए पुष्प आदि सजा दिये और फिर मेरे समीप आकर मुझे अन्दर जाने को संकेत किया। अन्दर प्रवेश करके मैंने देखा कि महाराज पुलकित होकर बैठे हैं। उन्होंने तीन बार श्रीरामकृष्ण के चरणों में पुष्पांजलि दी और मुझे भी ऐसा ही करने का आदेश दिया। तदुपरान्त उन्होंने मुझे मंत्र बताया और कई बार उसका उच्चारण कराने के बाद अपने को प्रणाम करने का आदेश दिया। मेरे तदनुरूप करने पर उन्होंने अपने हाथ मेरे सिर पर रख दिये और बाहर बरामदे में बैठकर वह मंत्र जपने को कहा। इसके साथ उनका विशेष निर्देश था कि मैं पुन: बुलाये जाने तक आसन से न उठूँ। करीब एक घण्टे बाद उन्होंने मुझे अपने रहने के कमरे के बरामदे में बुलाकर पूछा कि मुझे अब कैसा महसूस हो रहा है। मैंने बताया कि यह मेरे जीवन का सर्वाधिक विचित्र अनुभव है। तब वे बोले, "बेटा, अब तुम्हें जो इच्छा हो पूछ लो, मैं बताऊँगा।" मैंने कहा, "महाराज, मैं आनन्द से इतना भरपूर हूँ कि कम-से-कम इस समय तो मेरे मन में कोई इच्छा नहीं है, समझ में नहीं आता कि आपसे क्या पूछूँ।" उन्होंने पुन: कहा, "मन की गहराई में जाकर अपने आपसे पूछो कि क्या तुम मुझसे कोई कृपा चाहते हो।" मन को एकाग्र करते ही मुझे मालूम हो गया कि मैं क्या चाहता हूँ और मैं बोला, "महाराज, आप कृपया मुझे ऐसा आशीर्वाद दें कि मैं सबसे प्रेम कर सकूँ।" वे गम्भीर होकर बोले, "तुम बड़ी कठिन चीज माँग रहे हो, परन्तु जो ठाकुर प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं और जिनका प्रेम मुझे मिला है, उनकी कृपा से मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम अपनी मृत्यु के पूर्व ही सभी मनुष्यों से बिना किसी भेदभाव के प्रेम कर सकोगे।" उन्होंने खड़े-खड़े ही मुझसे ये बातें कहीं और मेरे शीश पर हाथ रखकर आशीष दिया। मैं उनके चरणों में पूर्णत: अवनत हो गया। फिर उन्होंने थोड़ी-सी मिठाई मँगवाकर मुझे अपने सामने ही खाने को कहा।

मैं एक छिद्रान्वेषी-नैतिकतावादी और समालोचक था, पर

यह देखकर मेरे विस्मय तथा आनन्द की सीमा न रही कि अगले सात दिनों तक मैं लोगों में केवल अच्छाइयाँ ही देख पाता था, बुराई की धारणा तक भूल चुका था।

एक बार मैं सीने की एक विचित्र पीड़ा से कष्ट भोग रहा था। छाती की इस ऐंठन से त्रस्त होकर जब मैं धरती पर लोटने लगता, तब स्वामी ओंकारानन्द कभी-कभी मुझे जोर से दबाये रखते, जिससे थोड़ी-सी राहत मिलती थी। एक बार पीड़ा इतनी बढ़ी कि महाराज ने मुझे उठवाकर बिस्तर पर लिटा दिया और डॉक्टर को बुला भेजा, पर वे भी रोग का निदान करने में असफल रहे। हृदय तथा फेफड़े ठीक हालत में थे और दर्द वैसे ही चलता रहा। महाराज आकर मेरे बिस्तर के एक किनारे बैठ गये और बोले, "बेटा, क्या तुम मरने से डरते हो? पर तुम मरोगे नहीं।" फिर उन्होंने बताया कि पीड़ा का कारण भाव है और ऐसा ही उन लोगों (ठाकुर के शिष्यों) के जीवन में भी हुआ था, पर दुर्भाग्यवश मेरे मामले में इसने शारीरिक रूप धारण कर लिया है।

एक बार मुझे एक स्वर्गीय दृश्य देखने का सौभाग्य मिला। ठाकुर के एक जन्मोत्सव समारोह के अवसर पर मुझे महाराज के कमरे की ओर जाने के रास्ते पर पहरा देने का काम सौपा गया था। इस तरह की सावधानी आवश्यक थी, क्योंकि उस दिन मठ में तरह-तरह के लोगों की बड़ी भीड़ हुआ करती थी। उत्तम वेशभूषा में सज्जित एक महिला सहसा मेरे पास आयीं। नौ अन्य सेविकाएँ भी उनका अनुसरण कर रही थीं। उनके चाल-ढाल में कुछ ऐसी खास बात थी, जिसके कारण मैं सावधानीपूर्वक उनकी ओर देखने लगा। उन्होंने बड़े मृदु स्वर में मुझसे कहा, "बेटा, क्या तुम जाकर राखाल से कहोगे कि अन्नपूर्णा की माँ आई है? बस इतना ही कह देना।" पता नहीं क्यों मेरे मन में आया कि मैं रास्ता छोड़कर किनारे हट जाऊँ। मैंने कहा, "जाओ माँ, जाओ।" उनके महाराज के कमरे की सीढ़ी के निकट पहुँचने के पूर्व ही, महाराज उनसे मिलने को प्राय: दौड़ते हुए चले आये और बारम्बार पूछने लगे, "क्या तुम वह (चीज) लायी हो? क्या तुम वह लायी हो?" वे अपनी साड़ी का छोर खोलकर नारियल के लड्डू निकालने लगीं और महाराज बेसब्री के साथ प्रतीक्षा करते रहे। लड्डू मिलते ही महाराज ने उन्हें खाना शुरू कर दिया। तभी पता नहीं कहाँ से स्वामी शिवानन्द भी उधर आ निकले और कहने लगे, "महाराज, कृपया अकेले-अकेले मत खाइए। थोड़ा-सा मुझे भी दीजिए न!" उन लोगों का खाना समाप्त हो जाने पर वे वृद्ध महिला चली गयीं और महाराज लोग भी अपने-अपने कक्ष में चले गये।

अगले दिन मुझे सारी बात मालूम हुई। महाराज ने मुझसे पूछा, "कल तुमने देखा?"

मैंने उत्तर दिया, "जी, महाराज।"

वे बोले, "तुमने इसका तात्पर्य क्यों नहीं पूछा?"

मैंने कहा, "मुझे तात्पर्य जानकर क्या करना था। मैं तो देखने मात्र से ही सन्तुष्ट था।"

तदुपरान्त महाराज ने बताया कि अन्नपूर्णा की माँ ठाकुर की एक भक्त हैं। ठाकुर ने दर्शन देकर उन्हें मिठाई बनाकर महाराज के पास ले जाने का आदेश दिया था। ठाकुर ने महाराज को भी दर्शन देकर बता दिया था कि वे आनेवाली हैं।

मैंने पूछा, "परन्तु स्वामी शिवानन्द इस बारे में कैसे जान गये?"

उन्होंने उत्तर दिया, "अरे, तारक दादा एक बड़े महात्मा हैं, सम्भव है कि उन्हें भी वही दर्शन मिला हो।"

बेलूड़ मठ में महाराज प्रतिदिन मन्दिर के बाहर बेंच पर बैठकर हुक्का पीया करते थे। कुछ ही कश लेने के बाद वे समाधि की अवस्था में डूब जाते। मैंने ध्यानपूर्वक देखा है कि उस अवस्था में उनका श्वास-प्रश्वास बिल्कुल ही रुक जाता। थोड़ी देर बाद वे एक गहरी साँस लेकर कहते, "इतने सालों बाद भी ये लड़के ठीक-ठीक हुक्का सजाना नहीं जानते।"

महाराज के गुरुभाइयों का उनके प्रति जो प्रेम और सेवा का भाव था, वह अनुभूति का विषय है, न कि वर्णन का। मुझे वाराणसी में देखी हुई एक घटना याद हो आती है। महाराज और स्वामी तुरीयानन्द बाहर टहल रहे थे। यद्यपि शारीरिक ढाँचे की दृष्टि से उनमें काफी अन्तर था, तथापि वे एक अद्भुत जोड़ी के समान दीख पड़ते थे। महाराज लम्बे कद के थे और उनकी चाल तेज थी, जबकि हरि महाराज (तुरीयानन्दजी) अपेक्षाकृत छोटे कद के थे और थोड़ा भचककर चलते थे। अत: महाराज का साथ देने के लिए उन्हें प्राय: दौड़ते हुए चलना पड़ता था। इस प्रकार जब वे टहल रहे थे, उसी समय सूर्य की किरणें आकर महाराज के चेहरे पर पड़ीं और तुरीयानन्दजी ने महाराज को उनसे बचाने के लिये अपना छाता उठा लिया। इस पर उनके आपत्ति व्यक्त करने पर हरि महाराज ने उत्तर दिया, "और किसके लिए करूँगा।" थोड़ी देर बाद जब महाराज शौचालय में गये, तो हरि महाराज पानी और तौलिया लेकर बाहर बैठे रहे और बाहर आने पर उन्होंने उनका हाथ धुला दिया।

इस जीवन में महाराज के जैसा स्नेह मैंने और किसी में भी नहीं पाया। वे प्रेम की घनीभूत मूर्ति थे, मानो वे प्रेम के सिवा अन्य कुछ जानते ही न थे। अहैतुकी कृपा इसी प्रेम का सर्वोच्च शिखर है। वैसे तो महाराज श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र के रूप में सुपरिचित हैं, पर मेरे लिए तो वे आश्रयदाता, पिता, मित्र और उपदेष्टा गुरु भी हैं। मैंने उनके समक्ष कितनी ही बार हठ किया है, पर वे मुझसे शायद ही कभी नाराज हुए होंगे और यदि कभी उन्होंने नाराजगी दिखायी भी होगी, तो उसके मूल में मेरे कल्याण की कामना ही तो थी। ❑ ❑ ❑

स्वामी शुद्धानन्द (५)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

ऋषिकुल के प्राचीन आदर्श के अनुसार उन दिनों मठ में संन्यासी-ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त विद्यार्थीगण भी रह सकते थे। यहाँ स्मरणीय है कि तब तक मिशन का अन्यत्र कोई भी विद्यार्थी-भवन या छात्रावास स्थापित नहीं हुआ था। स्वामीजी की नियमावली द्वारा अनुमोदित मठ में स्थापित होनेवाला यह विद्यार्थी-आश्रम ही सम्भवत: पहला था। शुद्धानन्द के ऊपर ही इसकी देखरेख की जिम्मेदारी थी।

१९०२ ई. के जून महीने का अन्तिम भाग चल रहा था। एक दिन स्वामीजी ने अपने प्रिय शिष्य शुद्धानन्द को एक पंचांग लाने का आदेश दिया। यथा आदेश पंचांग आ जाने पर स्वामीजी ने स्वयं बड़े एकाग्र चित्त से उसके पन्नों को उलट-पलट कर न जाने क्या देखा और उसके बाद उसे अपने पास ही रख लिया। उनके चेहरे की भाव-भंगिमा देखकर शिष्य को लगा कि शायद वे किसी विशेष कार्य के लिये एक तिथि चुनना चाहते हैं। हाय, उस समय भला कौन जानता था कि वे अपनी महासमाधि के लिये तिथि का निर्धारण कर रहे हैं! शुद्धानन्द के मन में एक क्षण के लिये भी इस विचार का उदय नहीं हुआ। इस घटना के लगभग एक सप्ताह बाद ४ जुलाई १९०२ ई. को स्वामीजी ने अपनी मर्त्यलोक की लीला का संवरण किया। आचार्य के महाप्रयाण के बाद उनके इन अन्तरंग शिष्य के हृदय में कैसा प्रचण्ड आघात लगा, इसकी भला कौन कल्पना कर सकता है? सब कुछ है, केवल वे नहीं हैं – सबकी आशा-आकांक्षा, उद्यम-तपस्या और सब प्रकार की प्रेरणा का गोमुख-प्रवाह मानो सहसा अवरुद्ध हो गया था।

यद्यपि स्वामीजी की महासमाधि हो चुकी थी, तथापि शुद्धानन्द को अनुभव हुआ कि उनकी महाशक्ति सबकी दृष्टि से अगोचर रहकर भी पूरे संघ के भीतर से क्रियाशील है। उन्हें बारम्बार स्मरण हो रहा था कि स्वामीजी ने अल्मोड़ा से एक पत्र में उन्हें लिखा था, "तुम लोगों को नये-नये मौलिक भावों का चिन्तन करने का प्रयास करना होगा – नहीं तो मेरे मरते ही सारा कार्य चौपट हो जायेगा।... स्मरण रखना कि अपने शिष्यों से मैं अपने गुरुभाइयों से भी अधिक की अपेक्षा रखता हूँ।"

१९०२ ई. के दिसम्बर में, स्वामी त्रिगुणातीतानन्द सैनफ्रांसिस्को के वेदान्त-केन्द्र का भार लेकर अमेरिका चले गये। उसके बाद 'उद्बोधन' पत्रिका के संचालन में एक बड़ी समस्या खड़ी हो गयी। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी की कठोर तपस्या तथा अथक परिश्रम के फलस्वरूप ही अब तक 'उद्बोधन' का प्रकाशन सम्भव हो सका था। इसके लिये उन्हें द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा तक माँगनी पड़ी थी। स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी सारदानन्द इस विषय में अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। आखिरकार यहाँ तक सोचने लगे कि क्या 'उद्बोधन' को बन्द कर देना होगा! पत्रिका की शुरुआत से ही शुद्धानन्द उसके सम्पादन में त्रिगुणातीतानन्द जी की सहायता किया करते थे। इसीलिये 'उद्बोधन' के इस संकट-काल में उन लोगों ने शुद्धानन्द को ही इसके सम्पादन का दायित्व सौंप दिया। वैसे स्वामी सारदानन्द ने सर्वदा ही व्यक्तिगत रूप से इस कार्य में उनकी सहायता की थी। इसके बाद सुदीर्घ दस वर्षों तक शुद्धानन्द ने अत्यन्त दक्षतापूर्वक 'उद्बोधन' का सम्पादन किया। क्रमश: उसका कार्यालय ३० नं. बोसपाड़ा लेन के किराये के मकान में और तदुपरान्त बागबाजार के १२-१३ नं. गोपाल नियोगी लेन में स्थानान्तरित हुआ। बाद में गोपाल नियोगी लेन की भूमि पर ही सारदानन्दजी के प्रयास से 'मायेर-बाड़ी' (माँ का मकान) निर्मित हुआ और वही 'उद्बोधन' का स्थायी कार्यालय हुआ। यहाँ पर विशेष रूप से स्मरणीय है कि श्रीमाँ सारदा देवी ने इसी भवन में २३ मई १९०९ के दिन शुभ पदार्पण किया था और यही उनके कलकत्ता-आवास में परिणत हुआ।

इन्हीं दिनों शुद्धानन्द ने स्वामीजी की अग्निमयी वाणी तथा रचनाओं के अनुवाद तथा प्रकाशन की ओर निष्ठापूर्वक ध्यान दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं भी 'उद्बोधन' पत्रिका के लिये अति मूल्यवान मौलिक लेख आदि लिखना शुरू किया। उनकी ये समस्त ओजमयी रचनाएँ किसी दिन संकलित होकर पुनर्मुद्रित होने पर नि:सन्देह देश के धार्मिक साहित्य को समृद्ध करेंगी।[१२] इन्हीं दिनों स्वामी सारदानन्द ने स्वयं भी लेखनी धारण किया और वर्तमान युग के भागवत – 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' को धारावाहिक रूप से 'उद्बोधन'

---

१२. 'उद्बोधन' पत्रिका के विभिन्न अंकों में प्रकाशित स्वामी शुद्धानन्द द्वारा रचित लेखों तथा कविताओं की संख्या कम-से-कम ७८ है। इसके अतिरिक्त उनकी कुछ मूल्यवान अंग्रेजी रचनाएँ 'प्रबुद्ध-भारत' तथा 'वेदान्त-केसरी' में भी प्रकाशित हुई हैं।

में प्रकाशित करने लगे। उस काल के 'उद्‌बोधन' का एक अन्य स्मरणीय गौरव है – श्री'म' द्वारा लिखित 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' को बंगाल के घर-घर में पहुँचाना। वस्तुत: शुद्धानन्द के करस्पर्श से 'उद्‌बोधन' को एक नवजीवन प्राप्त हुआ था। उन दिनों 'उद्‌बोधन' सचमुच ही देश के सांस्कृतिक जागरण में एक विशिष्ट भूमिका ग्रहण करने में समर्थ हुआ था। 'उद्‌बोधन' के इतिहास का यह एक स्वर्णिम अध्याय है। 'उद्‌बोधन' के माध्यम से स्वामीजी की समग्र ग्रन्थावली का प्रकाशन भी शुद्धानन्द की ही एक अक्षय कीर्ति है।

इसी बीच १९०३ ई. के ७ मई से शुद्धानन्द को बेलूड़ मठ का एक ट्रस्टी (न्यासी) नियुक्त किया गया। शुद्धानन्द की कर्मदक्षता पर मठ के तत्कालीन महासचिव स्वामी सरदानन्दजी की असीम आस्था थी। एक बार सारदानन्द जी की अनुमति तथा जानकारी के बिना ही, मिशन की सेवा-विषयक कोई रिपोर्ट समाचार-पत्र में भेज दी गयी थी। यथासमय उसके प्रकाशित होने पर सारदानन्द जी ने उसे देखा और काफी विस्मय तथा नाराजगी व्यक्त की। जब उन्हें बताया गया कि मठ से उद्‌बोधन कार्यालय भेजकर उनका अनुमोदन लाने में काफी समय लग जाता, इसीलिये उसे शुद्धानन्द जी को दिखाकर समाचार-पत्र में भेज दिया गया था। सारदानन्द जी तत्काल बोल उठे, "यदि सुधीर ने देख लिया हो, तो फिर मुझे कोई आपत्ति नहीं है।" तरुण संन्यासी शुद्धानन्द संघ-परिचालन के क्षेत्र में सारदानन्द जी के मानो दाहिने हाथ हो गये थे और बाद में सह-सचिव के रूप में कार्य करते रहे।

शुद्धानन्द की कर्मपरिधि केवल रामकृष्ण संघ तक ही सीमित न थी। बंगाल के युवकों के हृदय में स्वामीजी के भावों का बीज वपन करने के लिये उन्होंने काफी प्रयास किया। स्वामीजी की महासमाधि के उपरान्त कलकत्ते के युवकों ने उनके आदर्श के परिवहन हेतु जिस 'विवेकानन्द समिति' (Vivekananda Society)[१३] की स्थापना की थी, उसके मूल में स्वामी सारदानन्द की पृष्ठपोषकता तथा शुद्धानन्द का कर्मोद्यम विद्यमान है। वस्तुत: शुद्धानन्द ही इस समिति के प्राणस्वरूप थे।

अपने गुरुदेव का नाम वहन करनेवाली समिति को समुचित रूप से गढ़ने में भी उनका उत्साह देखते ही बनता था। इसके लिये आवश्यकता हुई तो वे विभिन्न असुविधाओं के बीच भी कलकत्ते में रहकर इसके संगठन कार्य में मनोनियोग करते थे। नयी पीढ़ी के भीतर स्वामीजी के भावों को प्रविष्ट कराने के लिये वे दिल खोलकर उन लोगों के साथ मेलजोल करते और पाठ, चर्चा तथा वार्तालाप आदि के माध्यम से उनके अनजाने ही उन लोगों के प्राणों में विवेकानन्द-विद्युत् का संचार कर देते। तत्कालीन कलकत्ते के जो तरुण इस माध्यम से उनके सम्पर्क में आये थे, उनमें से बहुतों ने बाद में संसार त्याग करके श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द की ध्वजा के नीचे आश्रय लिया था। फिर जो लोग संसार में रह गये, उन लोगों के लिये भी शुद्धानन्द का पूत संग ही संसार-ज्वाला से तप्त अपने प्राणों को शीतल करने का अमोघ मलहम था। युवा संगियों के समक्ष वे घण्टों मतवाले होकर श्रीरामकृष्ण-प्रसंग तथा स्वामीजी की स्मृतिकथा पर बोलते रहते। बालकों के समक्ष बृहदारण्यक, छान्दोग्य तथा कठ उपनिषदों के उच्च भावों को सहज-सरल भाषा में प्रस्तुत करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। गिरीशचन्द्र के 'बुद्धदेव', 'पूर्णचन्द्र' आदि भक्ति तथा वैराग्य-मूलक नाटकों से धाराप्रवाह आवृत्ति करते हुए वे सबको आकृष्ट कर लेते। उनके इस पाठचक्र में नित्य उपस्थित रहनेवाला कोई यदि किसी सांसारिक बाधा के कारण एक दिन भी नहीं आ पाता, तो ये संसार-विरागी संन्यासी स्वयं पैदल चलकर खोजते-खोजते उसके घर जा पहुँचते। तत्कालीन युवाटोली के एक सदस्य ने अपने जीवन-संध्या में स्मरण करते हुए लिखा था –

"उन दिनों हम कुछ समवयस्क युवक, जो वहाँ जाते, उन सभी को वे इतना अपना बना लेते कि संध्या के बाद और छुट्टी के दिन सोसायटी में जाकर उनका संगलाभ या उनके मुख की बातें सुनने का आकर्षण हम लोग कैसे भी छोड़ नहीं पाते। हम जानेवालों में से अधिकांश ही निम्न आयवर्ग के थे। संसार के विविध अभाव तथा समस्याओं से हमारे जीवन में हताशा तथा निराशा का भाव आ गया था। ऐसे समय इस प्रकार के एक प्रेमिक संन्यासी का संग पाकर हमें एक नवीन जीवन का स्वाद मिला था। उन्होंने हम लोगों के मनों तथा प्राणों में सचमुच ही एक नवीन आशा एवं उत्साह का संचार कर दिया था। हममें से कोई-कोई उन्हीं के सान्निध्य में अधिक-से-अधिक समय बिता पाने की आकांक्षा से सोसायटी में ही रात्रिवास करने लगे।"

गुरुनिष्ठप्राण शुद्धानन्द का इस विवेकानन्द सोसायटी के प्रति कितना अन्तरंग लगाव था, इसका परिमाप असम्भव है। उदाहरणार्थ उनके दो-एक पत्रों के कुछ अंश यहाँ उद्धृत करने के उपयुक्त हैं। उक्त सोसायटी के एक कर्मी को एक बार उन्होंने मधुपुर से लिखा था, "सोसायटी में धर्मभाव का ऐसा तरंग उठाओ कि वह 'विवेकानन्द' नाम के योग्य हो जाय। एक-दो व्यक्ति भी यदि सोसायटी के सम्पर्क में आकर यथार्थ मनुष्य बन सकें, तो वह भी मंगलकर है।"

१३. स्वामीजी द्वारा रचित संस्कृत, बँगला तथा अंग्रेजी कविताओं तथा गीतों का प्रसिद्ध संकलन 'वीरवाणी' इस संस्था का एक उल्लेखनीय प्रकाशन है। बाद में बँगला में प्रकाशित 'स्वामी शुद्धानन्द ओ विवेकानन्द सोसायटी' पुस्तिका में कुछ पुरानी स्मृतियाँ और शुद्धानन्द जी के कुछ प्रेरणादायी पत्र भी प्रकाशित हुए हैं।

वाराणसी से लिखे उनके एक अन्य पत्र का अंश इस प्रकार है, ''खूब उत्साहपूर्वक ठाकुर-स्वामीजी का नाम लेकर कार्य में लग जाओ – हताश मत होना – याद रखना गीता में भगवान ने कहा है – **न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति** (हे वत्स, कल्याण करनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती।) मैं बीच-बीच में तुम लोगों की या तुम्हारे कार्य की समालोचना करता हूँ, इसके लिये बुरा मत मानना। यह जान रखना तथा विश्वास करना कि तुम लोगों और सोसायटी से सम्बन्धित हर चीज को मैं अपने प्राणों के समान प्रेम करता हूँ। यह जानकर मैं उत्फुल्ल होता हूँ कि सोसायटी के लिये जो अल्प-सा भी कार्य करता है, वह भी, ठाकुर-स्वामीजी जिस महान् कार्य के उद्देश्य से इस धरती पर आये थे, उसमें यथासाध्य सहायता कर रहा है।''

उधर शुद्धानन्द के बालसखा विरजानन्द ने मायावती से स्वामी विवेकानन्द जी की जीवनी तथा ग्रन्थावली के अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशन का व्रत लिया था। उनकी अक्लान्त निष्ठा तथा अध्यवसाय के फलस्वरूप स्वामीजी की बृहत् जीवनी के एक-एक खण्ड प्रकाशित हो रहे थे और उनकी ग्रन्थावली भी क्रमशः मुद्रित हो रही थी। शुद्धानन्द उस जीवनी की पाण्डुलिपि को पढ़कर मुग्ध हो जाते और अपने गुरुभ्राता को बारम्बार उत्साहदायी पत्र लिखा करते। एक पत्र में उन्होंने विरजानन्द को लिखा था, ''जिस प्रकार का अथक परिश्रम करके तुम यह विशाल जीवनी निकाल रहे हो, दूसरा कोई शायद ही इसे कर पाता।''

१९२६ ई. के अप्रैल में बेलूड़ मठ में सात दिनों का प्रथम महा-सम्मेलन आयोजित हुआ था। इसमें मठ तथा मिशन के वर्तमान तथा भविष्य की कर्मधारा के विषय में अनेक अति महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों पर काफी चर्चा हुई और उन्हें स्वीकृति दी गयी। इस ऐतिहासिक महा-सम्मेलन की परिकल्पना और सुचारु संचालन के पीछे शुद्धानन्द की प्रतिभा एवं दूरदर्शिता ही क्रियाशील थी। इसीलिये महा-सम्मेलन के रिपोर्ट में लिखा हुआ मिलता है – ''स्वामी शुद्धानन्द के अदम्य उत्साह तथा अथक परिश्रम के चलते ही सम्मेलन का विचार साकार रूप ले सका था।''

१९ अगस्त १९२७ के दिन मानो मठ तथा मिशन की नींव ही काँप उठी थी। संघ की स्थापना के बाद से ही सुदीर्घ २८ वर्षों तक सचिव के रूप में इसका गुरुभार अपने कन्धों पर वहन करनेवाले स्वामी सारदानन्द ने परलोक गमन किया। उनके महाप्रयाण से रामकृष्ण भाव-परिमण्डल के भीतर तथा बाहर एक अपूरणीय शून्यता की सृष्टि हुई। अब उनके सुयोग्य सहकारी स्वामी शुद्धानन्द के ऊपर ही महासचिव का कर्मभार सौंप दिया गया। इसी काल से १९३४ ई. तक करीब सात वर्ष उन्होंने इस उत्तरदायित्वपूर्ण पद को सुशोभित किया। वैसे बीच में १९३० ई. में स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण उन्होंने मार्च से एक वर्ष का अवकाश लिया था। उस दौरान यह जिम्मेदारी स्वामी विरजानन्द ने निभायी।

शुद्धानन्द का प्रशासन-काल सचमुच ही मठ तथा मिशन के इतिहास का एक अविस्मरणीय अध्याय है। उस दौरान जैसे अनेक जटिल परिस्थितियों का उदय हुआ, वैसे ही शुद्धानन्द की असाधारण संचालन क्षमता के चलते उनका द्रुत समाधान भी हो गया। विशेषकर १९२९ ई. में जिस समय मिशन की सम्पत्ति के विषय में कुछ जटिल समस्या उत्पन्न हो गयी थी, उस समय तत्कालीन महासचिव स्वामी शुद्धानन्द के साधुत्व, प्रत्युत्पन्न मति, धैर्य तथा कार्यकुशलता ने मिशन को उसकी मर्यादा तथा अपने केन्द्र में स्थिर रहने में काफी सहायता की थी।

शुद्धानन्दजी का दैनन्दिन जीवन आध्यात्मिक साधना तथा निष्काम कर्म के आदर्श से ओतप्रोत था। महासचिव के कठिन कर्तव्य का नियमित तथा सुचारु रूप से निर्वाह करते हुए भी उनके जीवन में कभी स्वाध्याय तथा ध्यान-भजन के लिये समयाभाव नहीं दीख पड़ा था। मठ तथा मिशन की इतनी बड़ी जिम्मेदारी का कार्य सम्पन्न करते हुए भी वे साधु-ब्रह्मचारियों को प्रतिदिन दो बार एक-एक घण्टा शास्त्र पढ़ाते थे। जिस किसी को भी उनके मुख से ठाकुर-स्वामीजी के जीवन के आलोक में गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र की अपूर्व व्याख्या सुनने का सौभाग्य मिलता, वह अपने प्राणों में एक नवीन चेतना का बोध करता। मठ के प्रत्येक साधु-ब्रह्मचारी निष्काम कर्म के साथ-साथ ज्ञान-विचार तथा आत्मचर्चा में भी मनोनियोग करें, इस ओर उनकी प्रखर दृष्टि थी। उपनिषदों की चर्चा के प्रति साधुओं का आकर्षण बढ़ाने के लिये उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य उपाख्यान को सरल संस्कृत नाटक में रूपान्तरित करके, उसका साधु-ब्रह्मचारियों द्वारा ही मठ में कई बार अभिनय भी करवाया था। मुख्यतः शुद्धानन्द के हार्दिक आग्रह के कारण ही बेलूड़ मठ के साधुओं की शास्त्र-शिक्षा के लिये स्वामी प्रेमानन्द ने एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की थी।

समग्र संघ के इतने महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन होकर भी वे प्रतिदिन कुछ समय नवीन साधु-ब्रह्मचारियों के साथ अति सहज भाव के साथ मिलने-जुलने में बिताते थे। शुद्धानन्द जी की निरभिमानिता तथा सरलता ने उनके चरित्र में एक अपूर्व मधुरता ला दी थी। कई बार वे नये ब्रह्मचारियों को भी अपने समवयस्क मित्र के समान बुलाकर कहते, ''आओ जी, थोड़ी चर्चा की जाय।'' कहते हैं कि यह 'चर्चा' शब्द उन्हें साक्षात् स्वामीजी से ही प्राप्त हुआ था। बातचीत के

माध्यम से धर्मप्रसंग को स्वामीजी 'चर्चा' कहते थे। शुद्धानन्द जी तरुण साधु-ब्रह्मचारियों के साथ इसी प्रकार घण्टों विविध विषयों पर 'चर्चा' किया करते थे। जिन लोगों को इन चर्चाओं में भाग लेने का अवसर मिला था, उन्हें आजीवन इन बालकवत् साधुपुरुष के संग-माधुर्य की स्मृति बनी रही। उदाहरण के लिये ऐसे दो-एक जन के संस्मरण यहाँ उद्धृत करने से उपरोक्त बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। मठ के एक ब्रह्मलीन वरिष्ठ संन्यासी के एक व्यक्तिगत पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं, ''चाहे कोई साधु-ब्रह्मचारी रहा हो अथवा भक्त-गृहस्थ, पूजनीय सुधीर महाराज सशरीर रहते, जो कोई भी मठ में आया; उनके निश्छल पवित्र जीवन, सरल निष्कपट व्यवहार, स्वामीजी के आदर्श तथा साँचे में ढली अनाडम्बर, अल्प में सन्तुष्ट, उत्साह तथा उद्दीप्त आचरण ने, उनमें से किसी को भी त्याग-वैराग्य के पथ पर अग्रसर न कराया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता।

''वे जहाँ कभी भी जाते या निवास करते, मठ के युवा-वृद्ध – सभी के आकर्षण के केन्द्र बने रहते। श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के भावालोक में शास्त्रों के मर्मार्थ को इतने सहज सरल भाव से समझाने की वैसी क्षमता अब तक मुझे किसी में देखने को नहीं मिली है। साधु-ब्रह्मचारियों के लिये मानो वे एक सन्दर्भ ग्रन्थ के समान थे। पूजा-पाठ में भी उनका आन्तरिक लगाव तथा प्रगाढ़ श्रद्धा थी। अनाडम्बर मर्मस्पर्शी भाव ही उनकी पूजा का मूलमंत्र था।

''अत: मेरे लिये वे एक श्रद्धा, प्रेम तथा आकर्षण की चीज थे। भेंट होने पर, उनके साथ थोड़ी देर बैठे बिना मठ में जाना मानो निरर्थक ही प्रतीत होता। लगता है कि जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया, उनमें से प्रत्येक यही बात कहेगा। उनका स्वयं का व्यक्तित्व, ठाकुर तथा स्वामीजी और उनके आदर्श की अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ भी न था। उन्होंने अपने कर्तव्य-पालन तथा आदर्श जीवन के द्वारा अपने अस्तित्त्व को स्वामीजी द्वारा स्थापित इस संघ में पूर्णतया विलीन कर दिया था। उनके विषय में मेरा यही वास्तविक भाव है, जिसे व्यक्त करना अति कठिन है, क्योंकि वह केवल अनुभव करने की चीज है।... मेरी दृष्टि में वे एक जीवन्त आदर्श थे।''

यहाँ मठ के एक अन्य विशिष्ट संन्यासी के एक व्यक्तिगत पत्र से ली गयी एक अन्य स्मृति भी उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है, ''उनका स्मरण होने पर एक ही बात बारम्बार याद आती है – उनका प्रेम। सबका कल्याण हो – यह इच्छा ही मानो मूर्त होकर उनके माध्यम से अभिव्यक्त हुई थी। इतने अल्प समय में ही व्यक्ति को अपना बना लेनेवाला दूसरा कोई मेरे देखने में नहीं आया। विशेषकर युवकों के तो वे परम मित्र थे। ... उनका उपदेश था – तुम लोग विद्यार्थी हो, भले मार्ग पर चलना, सर्वदा सत्य एवं ब्रह्मचर्य का पालन करना, निष्ठापूर्वक जप-ध्यान करना। ... ब्राह्मणों को वे नित्य संध्या-वन्दन आदि करने को कहते।''

हमने यहाँ केवल दो ही सरल मर्मस्पर्शी स्मृति-कथाओं का उल्लेख किया है। कौन कह सकता है कि ऐसे और भी कितने लोगों के हृदय में शुद्धानन्द जी विराज रहे हैं! उनकी किसी से किसी भी प्रकार के सम्मान की अपेक्षा न थी – छोटे-बड़े सभी के लिये वे समान थे। सभी समय कोई भी नि:संकोच अपने मन की बात खोलकर उनके सामने प्रकट कर सकता था। युवा-वृद्ध सबके लिये शुद्धानन्द जी के द्वार सर्वदा खुले रहते थे। उनके शब्दकोष में गोपनीय जैसा कोई शब्द न था। एक बालक के समान सरल हृदय से वे सारी बातें कह डालते। अपनी किसी कमी या गलती की बात, वे अपरिपक्व कनिष्ठ लोगों को भी निष्कपट भाव से बता देते। किसी के भी किसी दु:ख-कष्ट की बात सुनकर वे बड़े विचलित हो जाते और जब तक अपनी क्षमता के अनुरूप उसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं कर लेते, तब तक उन्हें शान्ति नहीं मिलती। गुरुदेव की अनन्त हृदयवत्ता ही मानो शिष्य में भी संचरित हो गयी थी।

रामकृष्ण संघ के बहुविध विस्तार तथा विकास के मूल में शुद्धानन्द जी की साधना व त्याग के परिमाण का आकलन करना सचमुच ही कठिन है। केवल इतना ही नहीं, वे रामकृष्ण संघ के जीवन्त इतिहास भी थे। उन्हीं के परिश्रम के फलस्वरूप मिशन के ढाका केन्द्र को स्थायित्व मिला। ऐसे छोटे-बड़े अनेक केन्द्र, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उन्हीं के प्रयासों से स्थापित हुए थे। शुद्धानन्द जी के लिये 'रामकृष्ण मिशन' का वास्तविक अर्थ था – श्रीरामकृष्ण का मिशन या श्रीरामकृष्ण का प्रचार। मिशन के समस्त जन-हितकर कार्यों का वे एकमात्र यही उद्देश्य समझते थे – श्रीरामकृष्ण की महिमा का प्रचार। ऐसा न करने पर कर्म – योग का नहीं, भोग का कारण बनता है। छोटे-बड़े सभी कार्यों के भीतर शुद्धानन्द जी की यह 'रामकृष्ण-दृष्टि' संघ के साधु-कर्मियों के लिये सदा-सर्वदा एक दिशासूचक बनी रहेगी।

❖ **(क्रमश:)** ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (२९)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

बहुत साल पहले की बात है। एक सुप्रसिद्ध वकील थे। वे भारत के काँग्रेस पार्टी के सदस्य थे। वे विदेश गये। वहाँ भी उन्हें बड़ा पद मिला। बहुत पैसा उन्होंने कमाया था। उसका दुष्परिणाम हुआ। लड़के शराबी और दुश्चरित्र हो गये। कोई पूछने वाला नहीं रहा। एक लड़का अच्छा था। बुढ़ापे में ऐसा हुआ कि वे बातें भूलने लगे। अब देखें कि व्यक्ति सर्वज्ञानविमूढ़ कैसे हो जाता है ! वैसे इस बीमारी में बहुत लम्बा समय लगता है। इसे Alzimer कहते हैं। किन्तु वे लगभग ५ महिने के भीतर ही सब कुछ भूल गये। उनका पुत्र इस रोग को ठीक करने के लिये हजार कोशिश किया कि किसी तरह यह रोग ठीक हो जाय। किन्तु कोई सुधार नहीं हुआ। वह उनसे विदेशी बैंक का एकाउन्ट नम्बर पूछता रहा, किन्तु बाबूजी को नाम याद नहीं आया, तो नम्बर क्या बतावें? उनके स्विस बैंक में करोड़ों रूपये थे, सब डूब गये।

एक दूसरे व्यक्ति थे। उनका भी परिवार था, किन्तु वे बहुत संशयी थे। उन्होंने भी बहुत-सा पैसा जमा करके रखा था। बड़ी उम्र में उन्होंने दूसरा विवाह किया था। यह सत्य घटना है। नौकर, चाकर, दरवान सब कुछ है, किन्तु कमरे में जाते समय दरवाजा बंद कर लिया करते थे। घर तो बहुत बड़ा था। दो कमरा पार किया, फिर थोड़ी-सी जगह है, फिर मुख्य दरवाजा पार करके गाड़ी में बैठेंगे। किन्तु पहले दो कमरा पार करके, फिर पीछे जाकर अपने कमरे का ताला हिलाकर देख रहे हैं, ठीक से इसे लगाया हूँ या नहीं? बड़ा-सा ताला था। दो कमरे पार करके, बरान्डा पार करके आये। किन्तु फिर से ताला ठीक से लगा कि नहीं? ताला को हिलाकर देखा कि नहीं? इसके लिये फिर से वापस गये। फिर से हिलाकर देखा। ऐसा तीन बार हुआ। आंगन में आये, तो मुनीम जी से कहते हैं कि देखो तो ताला ठीक से लगाया है कि नहीं? मुनीम जी ने जाकर देखा और आकर बोला, हाँ, सेठजी ताला एकदम पक्का लगाया है। अच्छा, ठीक है, ख्याल रखना थोड़ा, बोलकर चले गये। जहाँ ऐसी मानसिक स्थिति है, वहाँ आप स्वयं कल्पना करें कि कितनी घोर आसक्ति धन के प्रति है।

आप ये याद रखें कि यदि हमारी बुद्धि संसारी विषयों में फँस गयी, तो हमारी भी बुद्धि नष्ट हो जायेगी, अकल्याण तो होगा ही। व्यक्ति इतना विमूढ़ हो जायेगा कि उसके मन में यह विचार भी नहीं आयेगा कि भाई, बाद में भी इससे और अधिक अकल्याण हो सकता है, अत: संसार से मन को हटा कर शान्ति का कुछ उपाय ढूँढ़ लें। इतना पैसा कमाया है तो पुत्र को कुछ दे दूँ, पत्नी के लिये कुछ करूँ, पुत्री को कुछ दे दूँ। हमारे पास करोड़ों रूपये हैं, तो कुछ सत्कार्यों में लगा दूँ। सिकन्दर को भी सारी संपत्ति छोड़कर जाना पड़ा था। अत: भगवान की यह बात कि हम अचेतस: न हो जायँ, इसे हमेशा याद रखें। क्योंकि नष्ट-बुद्धिवाले व्यक्ति के जीवन का कल्याण नहीं हो सकता। अत: संसारी-बुद्धि उतनी ही रखें जितनी आवश्यक है और इसके साथ परमार्थबुद्धि की ओर चिन्तन शुरू करें।

अब इसके बाद भगवान ३३ वें श्लोक में दो बड़ी बातें कहते हैं। भ्रमवश लोग अपनी गलती न मानकर उसे स्वाभाविक समझ लेते हैं –

सदृशं चेष्टते स्वस्या: प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: किं करिष्यति ।। ३-३३

– सभी प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करते रहते हैं, ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही प्रयास करता है, तो फिर इसमें निग्रह क्या करेगा?

अंग्रेजी में कहते हैं, Devil can quote the scriptures – भूत या राक्षस भी शास्त्रों का प्रमाण दे सकता है।

क्या करें, हमारा स्वभाव ही ऐसा है। भगवान कहते हैं, हे अर्जुन, सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, उसी के अनुसार चलते हैं, वैसी ही चेष्टा करते हैं। इसमें बलपूर्वक निग्रह क्या करेगा? लोग कहते हैं, भगवान हमारा स्वभाव ही ऐसा है, तो हम क्या करें? प्रकृति ही हमसे ये सब कराती है। क्या कराती है? जो हमने पिछले जन्मों में अभ्यास किया है, उससे हमारी प्रकृति बनी है, हमारा स्वभाव बना है। इस जन्म के भी कुछ प्रभाव उनमें हैं। उसके अनुसार हम कर्म करते हैं। मूर्ख लोग भी वैसे ही कर्म करते हैं, ज्ञानवान भी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है, तो बलपूर्वक रोकने से क्या होगा? बात बहुत सरल लगती है। हमारा स्वभाव है इसलिये हम क्रोधित होते हैं – क्या करें? शुरू से हमारा नौकर भी क्रोधित होता था, हम भी क्रोधित होते हैं। गीता में तो लिखा है कि हम सब अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार काम करते हैं, तो हम क्या करें? अब हमको चटपटी चीजें खाना अच्छा लगता है, स्वादिष्ट भोजन करना अच्छा लगता है, क्योंकि, ये हमारी प्रकृति है। हमको यही अच्छा लगता है, हम उसी में संन्तुष्ट हैं। मनुष्य

अपनी प्रकृति से विवश है, यह ठीक है कि बहुत सी बातों में हम प्रकृति से विवश हैं, हमारा स्वभाव ऐसा है । किन्तु इसमें भी मनुष्य की कुछ स्वाधीनता है, वह विवश नहीं है ।

मान लीजिये, किसी को पढ़ने की बहुत आदत है । ग्रंथों से उसे प्रेम है । न वह बाहर कहीं जाता है, न टी.वी. देखता है, न किसी से ज्यादा गप-शप करता है, उसका ऐसा स्वभाव है, उसकी ये आदत है । पर प्रश्न यह है कि आप क्या पढ़ते हैं, इसमें आप विवश नहीं हैं, यह प्रकृति के हाथ में नहीं है । आप मार-पीट का उपन्यास पढ़ते हैं या शास्त्र पढ़ते हैं, यह आपके ऊपर निर्भर करता है ।

साधना की दृष्टि से गीता के तीसरे अध्याय का ३३ वाँ श्लोक बहुत महत्वपूर्ण है । हम यदि अपनी प्रकृति के अनुसार साधना नहीं कर रहे हैं, तो जीवन में उपलब्धि को पाना बहुत कठिन है । जो हमारी प्रकृति के अनुकुल हो उसी प्रकृति के अनुसार राग, द्वेष आदि छोड़कर साधना करें, तो इष्ट प्राप्ति की संभावना अधिक है । हमें किसी की नकल नहीं करनी चाहिये । अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार ही साधना करनी चाहिये । शास्त्र में इसे अधिकारवाद कहते हैं ।

हमने किसी व्यक्ति को देखा कि वह दिन-रात शास्त्रपाठ करता है और दूसरों को कहता है कि अरे, क्या इस जप-ध्यान में लगे रहते हो, ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है । मुझे इतने उपनिषद कंठस्थ हैं, ब्रह्मसूत्र की व्याख्या मैंने पढ़ी हैं । ठीक है । आपको इसमें रुचि है । श्रवण, मनन, निदिध्यासन में आप लगे हैं । हमारी पढ़ने में रुचि नहीं है । हम आधा घंटा पढ़ते हैं, तो हमको नींद आने लगती है । हम एक घंटा पढ़ते हैं, तो हमको ये पता नहीं लगता कि कौन-सा पृष्ठ पढ़ा, पन्ना बदला कि नहीं बदला । इस स्थिति में यदि कोई श्रवण-मनन-निदिध्यासन में लगाये, तो उसके लिए अमृत है, किन्तु मेरे लिये विष के समान होगा । क्यों ऐसा होता है? हमारी प्रकृति के कारण ।

नागपुर में एक बहुत बड़ी कंपनी थी । वहाँ संतरे बहुत होते हैं, उसे व्यापारी विदेश में भेज देते हैं । गाँव का एक गरीब आदमी था । उसको वहाँ नौकरी में लगाना था । उसे उसका मित्र लेकर आया और काम में लगा दिया । उस आदमी ने देखा कि संतरों का पहाड़ लगा हुआ है । वह गाँव का आदमी था, उसको समझा दिया कि ये प्रथम श्रेणी के संतरे हैं, ये दूसरे और ये तीसरे श्रेणी के संन्तरे हैं । उनको अलग-अलग करना है । सभी श्रेणी के संतरों को अलग-अलग करना है । वह आदमी संतरों को देख रहा है । उसने एक हाथ में एक सन्तरा लिया, दूसरे हाथ में दूसरा और सोच रहा है कि अब मैं कैसे जानूँ कि यह किस श्रेणी का है । उसे समझ में नहीं आ रहा है, क्योंकि उसने कभी सन्तरे की खेती नहीं की थी, चुनने का काम नहीं किया था । बाबू ने उसे डाँटा । उसमें एक भला आदमी था । उसने कहा यह काम तुझको नहीं करना है । सन्तरे का जो ट्रक आता है, उसको तुम उतारकर इसी ढेर में डाल देना । उस काम को वह मशीन के समान करने लगा । उसकी बुद्धि में यह निर्णय करने की शक्ति ही नहीं थी, उसकी यह योग्यता नहीं थी कि कौन-सा सन्तरा पहली, दूसरी, तीसरी श्रेणी का है । किन्तु दूसरा काम वह आसानी कर ले रहा है । यह अधिकारवाद है । हिन्दू धर्म का यह विचार अक्षरश: सत्य है ।

हम ज्ञानयोग के अधिकारी नहीं हैं, हम राजयोग के अधिकारी नहीं हैं, तो अपनी प्रकृति के अनुसार हम दूसरा काम कर सकते हैं । जैसे वह व्यक्ति संतरों का बोरे उतार सकता हैं, किन्तु छाँट नहीं सकता । जो संतरे छाँट सकता है, हो सकता है कि ट्रक से बोरे उतारना उसके लिये कठिन काम होगा । इसी प्रकार हमें अपनी प्रकृति को समझकर उसके अनुसार साधना करनी चाहिये । यह बात मन से बिल्कुल निकाल देनी चाहिये कि आध्यात्मिकता हम किसी क्रिया से प्राप्त कर सकेंगे । जैसे पैसे देकर मकान खरीद लेते हैं, वैसे ही पैसे देकर हम भगवान को प्राप्त कर सकेंगे, शांति खरीद लेंगे, इस भ्रांति को मन से पूर्णत: निकाल देना चाहिए । यह तिल-तिल करके चलने वाला रास्ता है और जो इस प्रकार चलने के लिये प्रस्तुत है, उसी के लिये यह मार्ग है । अन्यथा जीवन जैसा चल रहा है, वैसा ही रहेगा । जन्मों बाद कभी हमें ऐसा लगेगा और तब हम तिल-तिल रास्ता पार करने के लिये सक्षम होंगे ।

किन्तु यह ध्यान रहे कि प्रकृति यान्ति भूतानी निग्रहं किं करिष्यति, इसके द्वारा उच्छृंखलता करने की हमें छूट नहीं हो गयी है । भगवान जैसा मनोवैज्ञानिक इस पृथ्वी पर 'न भूतो न भविष्यति', उस काल में कोई इतना बड़ा मनोवैज्ञानिक नहीं था, न आज है और न भविष्य में कोई होगा । भगवान कृष्ण ने तुरन्त यह समझ लिया कि मेरे इन उपदेशों का दुरुपयोग आने वाले लोग करेंगे । मेरे समय में ही कितने लोग हैं कि कहेंगे कि अरे, हमारा स्वाभाव ही ऐसा है, तो हम क्या करें! यदि किसी के मन में लगता है कि दूसरों का घर लूट लें, दुर्बल आदमी को मार दें, छोटे बच्चों को भगाकर ले जायें, तो क्या यह भी प्रकृति के अनुसार मान लें? इस भ्रम के निवारणार्थ भगवान ३४ वें श्लोक में कहते हैं –

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।। (३-३४)

– प्रत्येक इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष ठीक से बैठे हुये हैं । मानव को उन दोनों के वश में नहीं आना चाहिये । क्योंकि वे दोनों ही श्रेयपथ के शत्रु हैं ।

❖ (क्रमश:) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

स्वानुभूति प्रकरण (जारी) –

निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इति कल्पनादूरम् ।
नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ।।४९३।।

अन्वय – अहम् निरुपमं अनादि-तत्त्वं, 'त्वं' 'अहं' 'इदं' 'अद:' इति कल्पनादूरम्, नित्य-आनन्द-एकरसं सत्यं अद्वितीयं ब्रह्म एव अस्मि ।

अर्थ – मैं उपमारहित हूँ, उत्पत्तिरहित तत्त्व हूँ, 'मैं'-'तुम', 'यह'-'वह' आदि कल्पनाओं के परे हूँ। मैं नित्य, आनन्दस्वरूप, एकरस, सत्य, अद्वितीय ब्रह्म मात्र हूँ।

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं
पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः ।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी
निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः।।४९४।।

अन्वय – अहं नारायण:, अहं नरक-अन्तक:, पुर-अन्तक: अहं, अहं पुरुष:, अहं ईश:, अहं अखण्डबोध:, अहम् अशेषसाक्षी, अहं निरीश्वर:, अहं निरहं च निर्मम (अस्मि) ।

अर्थ – मैं नरकासुर का नाश करनेवाला नारायण हूँ, मैं त्रिपुरासुर का नाश करनेवाला शिव हूँ, मैं अन्तर्यामी पुरुष हूँ, मैं ईश्वर हूँ। मैं अखण्ड बोध-स्वरूप हूँ, मैं सबका साक्षी हूँ, मेरा कोई भी शासक नहीं और मैं अहंता-ममता से रहित हूँ।

सर्वेषु भूतेष्वहमेव संस्थितो
ज्ञानात्मनाऽन्तर्बहिराश्रयः सन् ।
भोक्ता च भोग्यं स्वयमेव सर्वं
यद्यत्पृथग्दृष्टमिदन्तया पुरा ।।४९५।।

अन्वय – अहम् एव सर्वेषु भूतेषु ज्ञान-आत्मना अन्त:-बहि:-आश्रय: सन् संस्थित: । स्वयं एव भोक्ता च भोग्यं, यत् यत् पुरा इदन्तया पृथक् दृष्टं सर्वं (अहम् एव) ।

अर्थ – मैं ही सभी प्राणियों में चैतन्य-स्वरूप से भीतर तथा बाहर आश्रय देता हुआ स्थित हूँ। पहले मैंने जिसे 'यह'-'यह' के रूप में अपने से पृथक् देखा था, भोक्ता तथा भोग्य के रूप में देखा था, वह सब मैं ही हूँ।

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ।।४९६।।

अन्वय – अखण्ड-सुख-अम्भोधौ मयि माया-मारुत-विभ्रमात् बहुधा विश्ववीचय: उत्पद्यन्ते विलीयन्ते ।

अर्थ – मुझ अखण्ड आनन्द-रूपी समुद्र में मायारूपी वायु के चलने से विश्व-ब्रह्माण्ड रूपी तरंगमाला उठती और विलीन होती रहती हैं।

स्थूलादिभावा मयि कल्पिता भ्रमा-
दारोपितानुस्फुरणेन लोकैः ।
काले यथा कल्पकवत्सराय-
णर्त्वादयो निष्कलनिर्विकल्पे ।।४९७।।

अन्वय – यथा निष्कल-निर्विकल्पे काले लोकै: स्फुरणेन कल्पक-वत्सर-अयन-ऋतु-आदय: नु आरोपिता: (तथा) मयि (निर्विकल्पे) स्थूलादिभावा: भ्रमात् कल्पिता: ।

अर्थ – जैसे अविभाज्य तथा पूर्ण काल में लोगों द्वारा अपनी समझ के अनुसार वर्ष, अयन, ऋतु आदि की कल्पना कर ली जाती है, वैसे ही मुझ निष्कल-निर्विकल्प (आत्मा) में भ्रान्ति के कारण स्थूल-सूक्ष्म आदि पदार्थों की कल्पना कर ली जाती है।

आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्
कदापि मूढैरतिदोषदूषितैः ।
नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं
मरीचिकावारिमहाप्रवाहः।।४९८।।

अन्वय – अतिदोषदूषितै: मूढै: आरोपितं आश्रयदूषकं कदा अपि न भवेत्। मरीचिका-वारि-महाप्रवाह: उषरभूमिभागं आर्द्रीकरोति न।

अर्थ – जैसे मृगमरीचिका का विराट् प्रवाह ऊसर भूमि को गीला नहीं कर सकता, (वैसे ही) अत्यन्त दोषों से परिपूर्ण मूढ़ लोगों द्वारा अधिष्ठान (आत्मा) पर आरोपित दोष-गुण उसे कदापि दूषित नहीं कर पाते।

आकाशवल्लेपविदूरगोऽह-
मादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽह-
मम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ।।४९९।।

अन्वय – अहं आकाशवत् लेपविदूरग:, भास्यविलक्षण: आदित्यवत् अहम्, अहार्यवत् नित्यविनिश्चल: अहं, अहम् अम्भोधिवत् पारविवर्जित: ।

अर्थ – मैं आकाश के समान निर्लिप्त हूँ, सूर्य के समान प्रकाशित होनेवाली वस्तुओं से पृथक् हूँ, पर्वत के समान सदा-सर्वदा निश्चल हूँ और समुद्र के समान असीम हूँ।

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः ।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।।५००।।

अन्वय – इव विहायस: मेघेन, मे देहेन सम्बन्ध: न। अत: तद्धर्मा: जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तय: मे कुत:?

अर्थ – जैसे बादलों के साथ आकाश का कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही मेरा देह के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव देह में होनेवाली जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं के साथ मेरा सम्बन्ध भला कैसे हो सकता है?

❖ (क्रमशः) ❖

विवेकानन्द जयन्ती समारोह, रायपुर – २०१४

स्वामी विवेकानन्दजी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में युवकों के व्यक्तित्व विकास, नागरिकों को प्रबुद्ध एवं जागरूक बनाने, दीन-दुखियों की सेवा एवं भक्तों के हृदय में भक्ति-गंगा प्रवाहित करने के लिये अनेकों कार्यक्रम आयोजित किये गये, जिसकी संक्षिप्त रिपोर्ट प्रस्तुत की जा रही है –

विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग भवन में प्रतिदिन संध्या ६ बजे विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं –

२ जनवरी, गुरुवार को अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। विषय था – '**भारत के नव निर्माण में स्वामी विवेकानन्द की प्रासंगिकता**'। इसमें प्रथम पुरस्कार प्राप्त कीं शासकीय इंजिनियरींग महाविद्यालय, रायपुर की छात्रा कुमारी निहारिका अग्रवाल ने तथा द्वितीय पुरस्कार विजेता पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर की कुमारी भावना ध्रुव रहीं।

इस सत्र की अध्यक्षता संस्कृत भारती के अध्यक्ष मुकुन्द माधव हम्बर्डे जी ने की।

३ जनवरी, शुक्रवार को अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता में शासकीय नागार्जुन स्नातक विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर के ऐश्वर्य पुरोहित ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया और शासकीय इंजिनियरींग महाविद्यालय, रायपुर की छात्रा कुमारी निहारिका अग्रवाल ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. विप्लव दत्ता ने किया।

४ जनवरी, शनिवार को अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – '**इस सदन की राय में देश में बढ़ते हुये आतंकवाद की समस्या का समाधान केवल बल प्रयोग की अपेक्षा नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा से अधिक सम्भव है।**'' इसमें विपक्ष में शासकीय इंजीनियरिंग महाविद्यालय, रायपुर की छात्रा कुमारी निहारिका अग्रवाल ने प्रथम पुरस्कार और पाइटेक कॉलेज, खरौरा रोड, रायपुर के नागेन्द्र सिंह ध्रुव ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया।

इस सत्र की अध्यक्षता दूधाधारी बजरंग कन्या महाविद्यालय, रायपुर के प्राचार्य अरविन्द गिरोलकर जी ने की।

५ जनवरी, रविवार को '**इस सदन की राय में देश में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान सैन्य-बल की अपेक्षा शान्ति वार्ता से अधिक सम्भव है**' विषय पर अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी। इसमें कांगेर वैली एकेडमी के अमृतांशु दास विपक्ष में प्रथम पुरस्कार विजेता रहे और विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के हेमंत बारले द्वितीय पुरस्कार विजेता रहे। इस सत्र की अध्यक्षता सेवानिवृत्त प्राचार्य रा. गो. भावे ने की।

६ जनवरी, सोमवार को अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता थी। इसमें विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के लेखराम चेलक ने प्रथम स्थान प्राप्त किया और कांगेर वैली एकेडमी के अमृतांशु दास ने द्वितीय स्थान प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. किशोर बापट ने की थी।

७ जनवरी, मंगलवार को अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता का आयोजन था। विषय था – "**स्वामी विवेकानन्द के स्वप्नों का भारत**"। इस प्रतियोगिता में ज्ञानगंगा एजुकेशनल एकेडमी के छात्र मानवेन्द्र ठाकुर को प्रथम पुरस्कार और कांगेर वैली एकेडमी, रायपुर की छात्रा कुमारी पूर्वा अग्रवाल को द्वितीय पुरस्कार मिला। इस सत्र की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्रो. डॉ. रवीन्द्र ब्रह्मे ने की।

८ जनवरी, बुधवार को 'अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता' थी, जिसका विषय था – '**युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द**'। इसमें प्रथम पुरस्कार विजेता विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के आशुतोष ध्रुव रहे और कांगेर वैली एकेडमी, रायपुर की श्रेया कुण्डु ने द्वितीय स्थान प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता राधाबाई नवीन कन्या महाविद्यालय की प्राचार्या डॉ. अरुणा पलटा ने की।

९ जनवरी, गुरुवार को 'अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता' आयोजित थी, जिसका विषय '**इस सदन की राय में विद्यार्थी जीवन की सफलता शिक्षकों की अपेक्षा अभिभावकों पर अधिक निर्भर है**' था। इसमें कृष्णा पब्लिक स्कूल, रायपुर की अपर्णा तिवारी ने विपक्ष में प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया और विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के छात्र निलेश वट्टी ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया।

इस सत्र की अध्यक्षता विज्ञान महाविद्यालय में रक्षा अध्ययन के विभागाध्यक्ष डॉ. गिरीशकान्त पाण्डेय ने किया।

१० जनवरी, शुक्रवार को 'अन्तर्प्राथमिक पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता' थी। इसमें विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के छात्र अविनाश भारद्वाज ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया और सन्त आशाराम गुरुकुल स्कूल, रायपुर की छात्रा तनिशा देवांगन ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। हर्षवर्धन, अविनाश भारद्वाज, सार्थक तिवारी, सुष्मिता ताम्रकार, विजय मार्कण्डेय, ईशा पटेल, सिया तिवारी, शिखा यदु, आदित्य नाग और सुयश कश्यप ने भी स्वामीजी के बड़े प्रेरक उद्धरण प्रस्तुत किये। अन्त में सभी प्रतिभागियों को 'स्वामी विवेकानन्द की चित्रमय जीवनी' नामक पुस्तक और चॉकलेट दिये गये।

इस सत्र की अध्यक्षता नये रायपुर विकास प्राधिकरण के एम. डी. श्री विनोद कुमार लाल ने की।

सभी प्रतियोगिता-सत्रों का आयोजन एवं संचालन स्वामी ब्रजनाथानन्द जी ने किया।

पं. रविशंकर विश्वविद्यालय में सभा

१२ जनवरी, २०१४ को प्रात: ९ बजे पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर की राष्ट्रीय सेवा योजना की इकाइयाँ और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया। सर्वप्रथम विश्वविद्यालय परिसर स्थित स्वामी विवेकानन्दजी की मूर्ति पर आश्रम के संन्यासी, मुख्य अतिथियों, छात्रों द्वारा माल्यार्पण धूप-पुष्प-आरती अर्पित किया गया। उसके बाद मंचस्थ स्वामी विवेकानन्दजी के चित्र पर दीप-प्रज्ज्वन, माल्यार्पण किया गया। सभा का आरम्भ विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा के छात्रों के विवेकानन्द गीति से हुआ। सभा की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलसचिव श्री के. के. चन्द्राकर ने की। विशिष्ट वक्ता थे विद्यापीठ के सचिव और विनियामक आयोग के अध्यक्ष डॉ. ओमप्रकाश वर्मा। अन्य मंचस्थ वक्ता थे राष्ट्रीय सेवा योजना के राज्य क्षेत्रिय अधिकारी डॉ. समरेन्द्र सिंह, रा. से. यो. की समन्वयक सुश्री नीता वाजपेयी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रांत प्रचारक श्री दीपक और मुख्य अतिथि थे रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द। सबसे पहले छात्र-छात्राओं ने स्वामी विवेकानन्दजी को अपनी शब्दांजलि प्रस्तुत की। उसके बाद मंचस्थ सभी अतिथियों ने युवकों को संबोधित किया। तत्पश्चात् अतिथियों को राष्ट्रीय सेवा योजना के स्मारक चिह्न से सम्मानित करने के बाद विद्यापीठ के छात्रों द्वारा 'वन्दे मातरम्' के गीत से सभा सम्पन्न हुई। कार्यक्रम के बाद सबको स्वादिष्ट स्वल्पाहार दिया गया और 'सबके स्वामीजी' नामक पुस्तक वितरित की गयी।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन और पुरस्कार वितरण

१३ जनवरी, सोमवार को विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन किया गया। सभा की अध्यक्षता और पुरस्कार वितरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव श्रीमत् स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने की। सभा के मुख्य अतिथि और विशिष्ट वक्ता विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के सचिव और विनियामक आयोग के अध्यक्ष डॉ. ओमप्रकाश वर्मा थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण आलोक में स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर बड़ा ओजस्वी प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि मैं यहाँ अतिथि नहीं हूँ। मैं तो आश्रम के ही छात्रावास में रहता था। मुझे हमेशा स्वामी सत्यरूपानन्दजी से मार्ग-दर्शन मिलता रहता है। वे हमारे आदर्श थे। उनके निर्देशन में ही मैं इस स्तर पर पहुँचा हूँ। उसके बाद पुरस्कार वितरण और छात्रावास के बच्चों के 'हम होंगे कामयाब' गीत से सभा सम्पन्न हुई। प्रतियोगिता के सभी सत्रों का संचालन स्वामी ब्रजनाथानन्दजी ने किया। उद्घाटन कार्यक्रम का स्वागत भाषण, धन्यवाद ज्ञापन और संचालन स्वामी निर्विकारानन्दजी ने किया।

रामायण प्रवचन

स्वामी विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में मंगलवार, १४ जनवरी, २०१४ से २० जनवरी, तक प्रसिद्ध श्रीरामकथा के संगीतमय प्रवचनकर्ता स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती 'श्री राजेश रामायणी' ने आश्रम-प्रांगण के भव्य पांडाल में 'श्रीसीता चरित' पर प्रवचन देकर भक्तों को भाव-विभोर किया।

राहत कार्य

२१, जनवरी, २०१४ को २ बजे रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा संचालित गदाधर प्रकल्प केन्द्र, विवेकानन्द विद्यामंदिर, लखौली में रोटरी क्लब की सहायता से आरंग जिले में लखौली के आसपास के आठ गाँवों के गरीबों को स्वामी सत्यरूपानन्द जी, श्रीमती इला कल्चुरी, एम.एम.सी.टी. की डायरेक्टर शमिता चक्रवर्ती और रोटरी क्लब के शशि वरवंडकर के कर-कमलों से १०० कम्बल वितरित किये गये।

(रिपोर्टींग – विष्णु नुरेटी और रजत महापात्र, विवेकानन्द विद्यार्थी भवन, रायपुर)